प्रास्ताविक

अपने इस पाँचवे कवितासंग्रह, 'मुक्तिका', को पाठको के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे स्वाभाविक प्रसन्नता है। पाठको ने मेरे पिछले चार कवितासंग्रहो को अपनाकर मुझे यह अवसर दिया है कि मै आशापूर्ण भावना-के साथ अपना यह पाँचवाँ कवितासग्रह उनके सम्मुख प्रस्तुत करूँ।

इस 'मुक्तिका' में मैंने अपनी वे तेतीस कविताएँ संगृहीत की है, जिनकी रचना जुलाई १९५२ से जून १९५४ तक के दो वर्षों में की गई थी।

नवीनतम सर्जन होने के नाते, अपनी क्षमता की सीमा के अन्तर्गत, स्वभावत. इन्हें मै अपनी कविताओ में प्रौढतम मान सकता हूँ।

यद्यपि इसकी प्रथम कविता के नाम पर इस सग्रह का नामकरण किया गया है, तथापि, मेरा यह नम्र प्रयत्न रहा है कि इसकी प्रत्येक कविता की अन्तरात्मा मे मुक्ति का स्वर यथासभव व्याप्त हो; वह मुक्ति, जो उन सव पाशों को तोडने की प्रेरणा दिया चाहती है, जिनसे मानवता को जकडने-का यत्न किया जाता रहा है।

छोटे-छोटे गीतो मे मन मे गुदगुदी उत्पन्न करनेवाले उन भावो को भरना, जो केवल नर और नारी के पारस्परिक आकर्षण को लेकर आदि-काल से आज तक कविता को, अनुपात की अपेक्षा अत्यधिक रूप मे, मोहवद्ध वनाते आए है, इन कविताओ का विषय नही रहा है। भक्त के भगवान्-

के आगे याचक बनकर प्रस्तुत होने की आकाक्षा के पुराने तथा अतिव्यापी भाव भी इनके विषय नही बन सके है । जब उक्त प्रकारो के पुराने भाव मेरे जीवन, कल्पना, भावना और अनुभूति के प्रधान विषय नही बन पाए हैं, तब मैं उन्हे अपनी कविताओ मे अवतरित करने की अस्वाभाविक चेष्टा कैसे कर सकता था ? अस्वाभाविक उद्‌गारो का नाम तो कविता नही है ।

भावप्रवाह की स्वाभाविक प्रखरता के कारण गीत और छद के बधनो-से भी जहाँ-जहाँ मेरी कविता ने मुक्ति चाही है, वहाँ-वहाँ मैंने उसे वह दिल खोलकर दी है ।

आज विश्व के जीवनमान और मानव-मूल्य क्रातिकारी रूप मे बदलना चाह रहे है । शब्दो मे अपने को सबसे अधिक सवेदनशील कहने-वाले कवि को व्यवहार मे इतना अधिक जड तो सिद्ध नही होना चाहिए कि वह युगपरिवर्तन के इन अभिनव प्रयत्नो से बिलकुल अप्रभावित बना रहे । किंबहुना, उसे तो इनसे सर्वाधिक प्रभावित होना चाहिए । प्रत्येक ऐसे कवि ने, जो समस्त युगोका कवि माना गया है, अपने युग के साथ पूर्ण न्याय किया है । आज के युग के कवि ही को इसका अपवाद क्यो बनना चाहिए ?

मैं बिना किसी सकोच या आत्मश्लाघा के यह कह सकता हूँ कि मैंने अपने युग के साथ न्याय करने का यथाशक्ति यत्न किया है । युगपरिवर्तन-के लिए किए जानेवाले कतिपय प्रयत्नो मे मैंने सक्रिय भाग भी लिया है । संघर्ष मेरे लिए कोरे शब्दो की चीज नही रहा है; उसने मेरे जीवन से कर्म-का भी कुछ अर्घ्य पाया है । सघर्ष की प्रेरणा और नवनिर्माण की लघु साधना ने मेरे भी प्राण, मन, आत्मा और हृदय मे कुछ मंथन उत्पन्न किया है । मैंने उस मंथन को अपने साहित्य मे वाणी देने का विनम्र प्रयत्न किया है । मुझे अपने यत्न में सफलता मिली या नही, यह मैं नही कह सकता; पर, यह कहने में मुझे कोई झिझक नही है कि साहित्य-सर्जन में मेरा मुख्य लक्ष्य यही रहता आया है । मैं अकिंचन हो सकता हूँ, किन्तु, पथ-भ्रष्ट नही हूँ ।

प्रियतमा की सकुचित आराधना के बदले मानवता की विशद उपासना-का यत्न करना तथा ईश्वर के बदले जनदेवता को अपना आराध्य बनाना रूढिवादी साहित्यिक क्षेत्रो की आलोचना, उपेक्षा, भर्त्सना और प्रहारो को निमत्रण देना है। फिर भी, जानबूझकर, मैंने, पुरानी रूढि छोडकर, अपने ये नए आराध्य चुनने का साहस किया है। इसका समस्त प्रतिफल भोगने-को भी मै सहर्ष तैयार हूँ।

मुझे सतोष है कि मेरी ये विनम्र रचनाएँ, चाहे जैसी हो, निरुद्देश्य प्रलाप नही है। अपने आराध्यो और आदर्शो पर मेरी आत्मा की दृढ आस्था है और मेरे हृदय पर उनका स्थायी प्रभाव। कूपमडूकता मे मै कविता की सार्थकता नही मानता। रस और सौदर्य को मै बहुत प्यार करता हूँ, किन्तु, आज के मानव को चिंतन, विचार और अन्वेषणो की जितनी उपलब्धियाँ प्राप्त है, उनके लिए भी मैने अपनी रचनाओ के द्वार बन्द नही किए है। रस का सबध स्थितिपालकता से नही, तादात्म्य से है। विषय के नए या पुराने होने का रससृष्टि पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नही पड़ता।

एक विनम्र समाजसेवी तथा अकिंचन अध्ययनप्रिय व्यक्ति के नाते भी मेरा जो कुछ अस्तित्व है, उसे भी मैंने अपने साहित्य-सर्जन मे पूर्णतया समर्पित करने का यत्न किया है।

मुझे विश्वास है कि केवल "मै, मेरी प्रियतमा और मेरा गीत" अथवा ऐसी ही किन्ही अन्य सकीर्णताओ अथवा निरर्थकमधुर शब्दजालो में अपने जीवन, साहित्यसर्जन और उपलब्धियो की इतिश्री समझनेवाले अनेक सम-कालीन कवियो के प्रयासो से मेरे ये विनम्र साहित्यिक प्रयास कुछ अधिक स्वस्थ, सोद्देश्य तथा सार्थक दिशा की ओर उन्मुख है।

जिस प्रकार इन कविताओ मे वही भाव समाविष्ट हो सके है, जो मेरे हृदय मे स्वभावत. उठते रहे है, उसी प्रकार इन कविताओ की भाषा भी वही

है, जो मेरे हृदय की स्वाभाविक भाषा है, जिसमे मै अनुभव करता, सोचता, बोलता, लिखता, रोता और हँसता हूँ ।

ससार के किसी भी कवि की कोई कविता, केवल इसलिए उपेक्षित नही रही है कि उसने उसे उस भाषा मे लिखा है, जो उसकी अपनी भाषा रही है । यह विचार किसी भी ईमानदार कवि के मन मे कभी नही उठ सकता कि वह यह सोचकर अपनी भाषा बदले कि उसे इस या उस वर्ग के लोग अपने अनुकूल न पा सकेगे । यदि यह विचार उसके मन मे उठेगा,तो उसकी कविता-की स्वाभाविकता नष्ट हो जायगी । स्वाभाविक कविता वही है, जो कवि की अपनी भाषा मे लिखी जाय । इस विषय में मै इसलिए भी सतुष्ट हूँ कि मैने अपनी इन कविताओ में उसी भाषा को अपनाया है, जिसमे आज आम तौर पर हिन्दी के साहित्यिक ग्रथ तथा सामयिक पत्र प्रकाशित होते और लक्ष-लक्ष पाठको के पास पहुँचते रहते है । मे अनुभव करता हूँ कि भाषा की दृष्टि से भी मै किसी सकुचित आधार पर नही खड़ा हूँ । यदि इस आधार-को और भी अधिक विस्तृत करने की आवश्यकता हो, तो उसके लिए अनुवाद का मार्ग खुला हुआ है ।

मुख्य प्रश्न भाषा का नही, बल्कि, यह है कि इन कविताओ मे प्राण, रस, तादात्म्य, तथ्य, तथा सौदर्य किस सीमा तक है । इस प्रश्न को उचित महत्त्व देने वाले निष्पक्ष समालोचको की इस मूलग्राही तथा मर्मस्पर्शी कसौटी के आगे मैं सहर्ष अपनी यह प्रिय रचना प्रस्तुत करता हूँ । उनसे मुझे पूर्ण न्याय की आशा है ।

ग्वालियर, २६।१०।५४ —जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द

भाई श्रीनारायण जी
चतुर्वेदी 'श्रीवर' को

कवितासूची

शीर्षक		पृष्ठ-संख्या

मुक्तिका

तुम रखो स्वर्णपिंजर अपना,
अब मेरा पथ तो मुक्त गगन !

(१)

गत युग की याद दिलाते हो—
था दुर्ग तुम्हारा वह उन्नत;
प्रासाद दुर्ग मे बृहत् और
उसमें वह पिंजर स्वर्णावृत !
पर, वे प्रतीक थे बंधन के,
आडंबर, गर्व, प्रलोभन के;
मैंने तो लक्ष्य बनाए थे
कुछ और दूसरे जीवन के !
अरमान विकल थे यौवन के,
तन बंदी था, मन था उन्मन !
तुम रखो स्वर्णपिंजर अपना,
अब मेरा पथ तो मुक्त गगन !

(२)

बंधन में फँसने के पहले
यह सत्य जान मै था पाया—
नभ छाया है इस धरती की,
धरती है इस नभ की छाया;
दोनो की गोद खुली, चाहे
मै नभ मे मुक्त उड़ान भरूँ,
चाहे धरती पर उतर, तृणो,
रजकणों आदि को प्यार करूँ;
दोनों के बीच नहीं बन्धन,
अवरोध, दुराव, परायापन !
तुम रखो स्वर्णपिजर अपना,
अब मेरा पथ तो मुक्त गगन !

(३)

अपना विभ्रम, अपना प्रमाद !
बँध गया एक दिन बन्धन मे !
वे दिन भी काट लिए मैने,
छल को पहचाना जीवन मे !
अब तोड चुका हूँ मै बन्धन,
कैसे विश्वास करूँ तुमपर ?
तुम मुझे बुलाते हो भीतर,
मै तुम्हे बुलाता हूँ बाहर !

दखो तो स्वाद मुक्ति का क्या,
कैसा लगता है स्वैर पवन !
तुम रखो स्वर्णपिजर अपना,
अब मेरा पथ तो मुक्त गगन !

(४)

नभ-भू से दुर्ग दूर मुझको,
प्रासाद दुर्ग से दूर मुझे,
पिंजर ले गया दूर उससे
भी, बनकर निष्ठुर, क्रूर, मुझे।
फिर सबके पास लौट आया,
अब धरती मेरी, नभ मेरा।
रजकण मेरे, द्रुम, तृण मेरे,
पर्वत मेरे, सौरभ मेरा !
वह सब मेरा, जो मुक्ति मधुर,
वह रहा तुम्हारा, जो बन्धन !
तुम रखो स्वर्णपिजर अपना,
अब मेरा पथ तो मुक्त गगन !

१४।३।५३

कला और नवयुग

(१)

वंशी के स्वर पर मुग्ध न हो तुम केवल ,
यह कैसे बजती है , यह भी तो जानो !
उस महाप्राण वादक के उर के आकुल
उच्छ्वासो को इसके स्वर में पहचानो !

(२)

लघु वंशखड से निस्सृत इस मृदु स्वर को
आकाश चाहिए विस्तृत, नील, गहनतम ,
जिसमें यथेच्छ यह स्वर फैले, छा जावे,
बन्धन-सीमा-लघन का करके उप-क्रम ।

(३)

आकाश मुक्त यदि हो न लक्ष्य इस स्वर का ,
कैसे यह, बन्धन तोड, उसे छू पावे ?
संकीर्ण परिधि का बना रहे यदि बन्दी ,
सीमा मे घुट-घुटकर यह मृत हो जावे ।

(४)

साधना इधर वादक की युग-युग की है,
है उधर तपस्या वंशदंड की वन की;
दोनोंने मिल जो रसानुभूति जगाई,
है वह विभूति बहुमूल्य मनुज-जीवन की।

(५)

दावानल उर मे छिपा बाँस ने वन में
की वर्षो अथक प्रतीक्षा जब इस क्षण की,
तब हृदय छिदा अपना बन पाया वंशी,
पा सका माधुरी प्राणपूर्ण वादन की।

(६)

वादक के उर मे छिपा हुआ था कोई
युग-युग का विरही, व्यथासंवरण करके;
वेदना उसीकी फूटी स्वर बन, ज्योंही
बाँसुरी लगी ओठों से वंशीधर के।

(७)

यह स्वर्ग कला का क्या वन्दी हो उसका,
जिस सीमा ने था जीवन नरक बनाया,
जिसमे मानो केवल पशुवत् श्रम कर-कर
मर जाने को मानव जग मे था आया?

(८)

वह सीमा ही जब टूट रही है, तब क्यों
वन्दी उसका यह मुक्त कला का स्वर हो?
नवयुग आया, अब ग्राम-ग्राम, पुर-पुर में
वंशीवट, वंशीवादन, वंशीधर हो!

२७।३।५३

संवरण

(१)

श्वेतकेशिनी इस नारी का
जीवन है इतिहास त्याग का !
इसे स्मरण है वह युग, जिसमे
उदय हुआ प्रथमानुराग का !

(२)

किन्तु, शीघ्र ही इसने अपने
पति को भेजा सजा समर में,
करने को संघर्ष अनय से
शस्त्र न्याय का लेकर कर में

(३)

जानेवाला फिर न लौटकर
आया इसके सूने घर में !
मिला शीघ्र आधार इसे, पर,
नव तुतलाते शिशु के स्वर में।

(४)

अब जब सुखआशा की इसने,
तरुण पुत्र का गूँजा यह स्वर-
"न्याय और अन्याय उभय का
द्वन्द्व आज भी है अजरामर !

(५)

मैं भी मानव हूँ, अब मैं भी
तरुण हुआ, माँ, मुझे विदा कर !
पिता गए थे जिसपर, मै भी
जाऊँगा अब उस बलिपथ पर !"

(६)

सुनकर उठी, आज फिर इसने
वज्र रख लिया अपने उर पर ;
रोके आँसू, गत पति की स्मृति;
विदा किया सुत वीर सजाकर ।

(७)

देख रही यह शून्य दृष्टि से—
बलिपथ सम्मुख, सुत है पथपर !
देख रहे हो तुम भी इसको
ओ कवि के उर के करुणाकर !

(८)

है यह कठिन परीक्षाक्षण, तुम
द्रवित न होना इस अवसर पर !
धैर्य न इसका बहे तुम्हारी
करुणाकालिन्दी मे मिलकर !

४।४।५३

कवि और मानवता

(१)

कितने क्षण आए, गए; अमर, पर, वह क्षण,
पूर्णत्व प्रेम ने कवि के जिसमें पाया,
मानवते, तुमको जिस अनुपम क्षण मे था
कवि ने अपना आराध्य अनन्य बनाया।

(२)

तुमको पाने का कवि का मार्ग नया था,
वैभव, आडम्बर उसने सब ठुकराए;
जो सदा उपेक्षित रहते आए जग मे,
उसने वे अपने सहचर सरल बनाए।

(३)

ज्यों-ज्यो थक-थककर एक-एक वे छूटे,
साहस, आकर्षण बढते गए निरन्तर।
वह क्षण भी आया, जब कवि ने यह देखा—
उसका सहचर था केवल पथ ही पथ पर!

(४)

बहुविध वाद्यो का छोड़ सहारा जो स्वर
भू से उठ नभ की ओर अकेला जाता,
या, जो रेखाकन, छोड़ विविध रंगों को,
पट पर छवि का इकरगा चित्र बनाता.

(५)

उसकी एकाकी निराधार लघुता मे
तन्मय महिमा का सब ससार समाता।
मानवते, तव आराधन मे कवि का था
कुछ ऐसी ही एकात्मकला से नाता।

(६)

साधना युगो तक करके कवि के उर ने,
मानवते, की उपलब्धि प्रशान्त तुम्हारी!
लघु, श्वेत पुष्प सा सरल, विमल निज जीवन
तुमपर अर्पित करने की की तैयारी।

(७)

वह सार्थकता, वह सिद्धि निकट जब आई,
रणभेरी ने वह स्वप्न भंग कर डाला।
फिर रक्तरजिता हुआ चाहती हो तुम,
है चारो ओर तुम्हारे ज्वालामाला।

(८)

वन्दिनी समरलिप्सा के पाशों की तुम,
आराध्ये, तुमसे दूर हुआ आराधक!

रणज्वालागिरि पर बैठी हो अब तो तुम ,
　　कवि की कुसुमांजलि पहुँचेगी क्या तुम तक ?

(९)

है सिद्धि दूर जितनी , उतनी ही प्रिय है ;
　　साधनासूत्र से बँधा साध्य से साधक !
आराध्य दूर हो चाहे आराधक से ,
　　जीवनव्रत कैसे छोड़ेगा आराधक ?

(१०)

जब प्रतिध्वनित हों हुआ चाहते रण की
　　कर्कश हुकारो से नभ, पृथ्वी, सागर,
स्पन्दन से प्रेरित प्रेम , शान्ति के कैसे
　　हो मौन भला तब कवि के प्राणो का स्वर ?

(११)

जब ज्वालाएँ हो, अस्त्रशस्त्र हो अगणित,
　　हो घेर रहे उपकरण युद्ध के भीषण ,
हो दूर भले ही, क्यो न तुम्हे तब कवि भी
　　जीवनकुसुमाजलि करना चाहे अर्पण ?

(१२)

आशा सर्वोपरि, अमर, अभी है आशा——
　　कवि, कला, स्नेह, सस्कृति का यह आवाहन
लौटा लाएगा तुम्हे शाति-छाया मे ,
　　मानवते, होगी अमर, अमर जगजीवन !

१७।४।५३

———

ज्योति के क्षण

(१)

तिमिर से संघर्ष किरणें कर रही हैं,
उदयगिरि के द्वार खुलते जा रहे हैं !
है तमिस्रा के क्षणों का अंत सम्मुख,
ज्योति के अरुणाभ क्षण अब आ रहे हैं !

(२)

जो चरण रुकता मनुजता का, निशा है ;
जो चरण बढ़ता, उषा है वह नवेली ;
ज्योति मे संपर्क पाती है मनुजता
और तम के आवरण मे वह अकेली !

(३)

जो निराशा की निशा की मूकता को
प्रथम कलरव का नवल स्वर दान देती,
तिमिर मे अनजान खोई मनुजता को
जो नए लोचन, नई पहचान देती ;

(४)

ज्योति वह, जो मुक्त हो, बँटती, बिखरती,
साम्य का, औदार्य का वैभव लुटाती ;
वह नहीं, जो सिमटती, सकीर्ण होती,
मनुजता, भू, प्रकृति का कल्मष बढ़ाती ।

(५)

ज्योति वह, जिसमे मनुज देता मनुज को
सरल करुणा, स्नेह, ममता का सहारा ;
ज्योति वह, जिसमे मनुजता के शिखर से
द्रवित हो वहती, निखरती भावधारा !

(६)

तिमिर वह, जिसमे मनुजता बद्ध होती,
रुद्ध होती, खर्व होती, हीन होती,
घिर परिधि मे स्वार्थ की वह कृपणता का
भार ढो-ढोकर निरतर दीन होती ।

(७)

अप्रभावित जो प्रतीक्षा की निशा से,
उस सुमन की सतत श्रद्धाभावना से
ज्योति के क्षण अवतरित होते जगत् मे,
चेतनापथ के पथिक की साधना से ।

(८)

ज्योति-क्षण आए, न यो ही लौट जावे,
कर्म से इनको चलो सार्थक वनावे !
तृप्ति, सुख, उल्लास, हास, विकास वनकर
मनुजजीवन मे अमर ये स्थान पावे !

१।५।५३

अन्वेषक से

(१)

ओ अन्वेषक,
ओ खानों मे रत्न खोजनेवाले,
गिरि मे, सागर मे तुमको वह मिल न सकेगा,
जो मानवतारत्न मिलेगा
उस मानव में तुमको,
जो श्रम करके जिए जा रहा जीवन अपना,
आदिकाल से जो इस जग का
बढ़ा रहा है सच्चा वैभव !
ओ प्रस्तर के पीछे पागल,
ओ जड़ के, भ्रम के आराधक,
चेतन को देखो;
दो आदर और स्नेह अपने अंतर् का
पुण्य, प्राणमय उस मानव को,
जिसने अपने तप से, श्रम से,
प्रतिभा से, साधना, स्नेह से

मानवता की आभा को कर दिया प्रभासित,
हुए ज्योतिमय जिससे
तीनो लोक,
भुवन चतुर्दश ;
जिसकी किरणे भवन-भवन मे
पहुँची ले आशासन्देश ।
सतत और शुभ, शात क्राति वह
तुम्हे न अब तक कर पाई अभिभूत !
जड रत्नो को ढूँढ़ रहे हो अब भी तुम दिनरात !

(२)

जड़ रत्नो से जड़े हजारो
मुकुटो को भूलुठित होते
देखा इस श्रमधन मानव ने ।
गर्वोन्नत भालो को देखा
रजकण के आगे नत होते ।
किन्तु, कर्मसाधनाशिखर पर
इसका स्वाभिमान रहता आया चिरउन्नत !
करता आया हिमगिरि से यह स्पर्द्धा,
सागर के गर्जन का उत्तर
देता आया श्रमसीकर से सजल गान से अपने !
इसने की स्वीकार चुनौती
सत्ता के, वैभव के मद की !
नही पराज्य इसने की स्वीकार

पशुबल से, वैभव के तस्करसमारोह से !
यह अजेय , यह अथक, अनवरत
दृढ़ता , धैर्य और सयम से
कठिन साधनापथ पर अपने
बढ़ता आया धीमी गति से ,
किन्तु, निरन्तर प्रगतिशील यह !
इसकी लघुता के महत्त्व का साक्षी है इतिहास !

(३)

जनसाधारण !
यह लघुता का अतिविशाल विस्तार !
इससे बढ़कर सत्य न कोई ,
इससे अधिक महान् न कोई !
अजरामर, अनन्त, अविजित यह,
यह अनादि , अविकार ।
बुद्‌बुद जैसे महासिन्धु मे,
उठते-गिरते इसके सम्मुख
कितने अभिमानी अभियानी !
इसकी करवट एक ,
एक हुकार ,
भूशायी हो जाते अगणित
दुर्ग और प्रासाद ,
लुट जाते है रत्नकोष चिरसचित,
रणसाधन सर्वोच्च कोटि के

क्षणभर मे सब धूलिधूसरित हो जाते हैं !
मानवता की, सत्य, शाति की,
त्याग, स्नेह, तप, श्रम की लेकर
विजय-ध्वजा कर मे बढ़ता है
यह निर्माणपथ पर अविरत।

(४)

ओ अन्वेषक !
खोजो इसमे तुम अपना आराध्य !
छोडो मोह अनृत आभा का ,
चकाचौंध से कर देती है दृष्टि विवश जो।
श्रम के और सत्य के पावन प्रभापुज से
जगमग, जगमग जो होती है ,
वह मानवता
ढूँढ़ो इसमे, पाओ इसमे ,
इस मानव मे,
जो स्रष्टा है
उस सबका, जो इस वसुधा पर
निर्मल, उज्ज्वल , सत्य और शिव,
सुन्दर, उन्नत और प्राणमय,
अजरामर है।
मानव को समझो,
उसकी उपलब्धि करो, वन्दना करो अब !
मानव , जिसने

अपने श्रम से, उत्सर्गों से,
तप से और साधनाक्रम से
इस वसुधा को गौरव-महिमा-युक्त बनाया,
जीने योग्य बनाया जीवन।
मानव को पाकर सब-कुछ पा जाओगे तुम !
इसे छोड़ यदि रत्नों के पीछे दौड़ोगे,
हृदयहीन पत्थर से केवल निर्ममता पा
पछताओगे ! समय चला जाएगा आगे !
ओ अन्वेषक !

२०।५।५३

रूप : सीमित और असीम

(१)

सुन्दरता सीमा मे है, पर,
वह सीमा के बाहर भी है ;
है नील-नयन सुन्दर, परन्तु,
सुन्दर नीला अम्बर भी है ।

(२)

तुम नयनो के स्मृतिदशन की
पीड़ा मे रात बिताते हो ;
पर, मुझे देखते देख गगन
क्यो तुम विस्मित हो जाते हो ?

(३)

मृदु कर की अरुण अगुली का
इंगित जो तुम्हे दिखाता है,
तत्काल तुम्हारे लिए वही
जीवन का पथ बन जाता है ।

(४)

पर, तुम क्यों होते चकित, पंथ
जब अपना उसे बनाता हूँ,
म जिसपर इंगित सागर की
लहरों के कर का पाता हूँ।

(५)

आँगन का कण-कण प्राणो के
अणु-अणु का वह आकर्षण है,
जिसके मृदु पाशों का वन्दी
बन चुका तुम्हारा यौवन है।

(६)

पर, विस्तृत वसुधा मे भी तो
अनुपम रस मुझको मिलता है;
पा मुक्ति-किरण का स्पर्श सुखद
जीवन का शतदल खिलता है।

(७)

तुम अपने अंकासीन चन्द्र-
से जब चमकाते निज आँगन,
नक्षत्रों के नायक शशि का
नभ मे तब मै करता दर्शन।

(८)

तुन अपने घर के फूलो पर
जब बरसाते ममत्व अपना;

बनते असीम वन के प्रसून
तब मेरे नयनों का सपना ।

(९)

जब दो लोचननिर्झर झरते,
तब तुम विह्वल हो जाते हो;
अपने प्राणो के अंचल से
तुम उनको धैर्य बँधाते हो ।

(१०)

पर, मानवता के हिमगिरि से
जब झरती करुणाधाराएँ,
चाहते शिखर —"हम गल-गलकर
औरों को शीतल कर पाएँ",

(११)

तब मेरे उर के पाहन भी
हिल-हिल उठते, गल-गल उठते,
संवेदन की कालिन्दी से
अपने को कर निर्मल उठते ।

(१२)

आश्चर्य तुम्हें तब क्यों होता,
क्यों प्रश्नाकुल होते लोचन ?
मुझको असीमता प्रिय उतनी,
जितना तुमको सीमाबन्धन !

२५।५।५३

गौरीशंकर

(१)

गौरीशंकर अब भी अजेय !
ये छोटे-छोटे मनुज आज
जय और पराजय के अपने
छोटे–छोटे पैमाने ले
कर रहे घोषणा – "जीत लिया
हमने जग का सर्वोच्च शिखर।"
पर, विजयदुंदुभी यह मानव की मिथ्या
मिथ्या मानव का दंभ और अभिमान
कि जीता उसने हिमगिरिशिखर,
कि वह अब स्वामी इसका हुआ।
सत्यदर्शन की वाणी अन्य !
कह रही–
"जब तक इससे उच्च
दिखाई दे न गिरिशिखर अन्य,
अजित है यह तब तक, सर्वोच्च

मुकुटमणि जग का ।
कर सकता केवल शिखर शिखर से स्पर्द्धा ।
मानव हो सकता मानव का प्रतियोगी ।
वामन नर की गिरि के आगे क्या गणना ?
गिरि के गौरव को ज्ञात नही प्रति-द्वन्द्वी ।
मानव ने केवल इतना गौरव पाया,
वह प्रथम चरण रख सका गोद मे इसकी ।
यह प्रथम शिखर;
यह प्रथम मनुज,
जिसने पहला आश्रय इसपर है पाया !
मानव शिशु-सा
गिरिशिखर जनक-सा, दोनों
कुछ निमिषो को मिल पाए पहली बार !
यह मिलन सफलता एक मनुज के श्रम की,
पर, इसे पराजय कैसे कोई समझे
गिरिराज हिमालय के सर्वोच्च शिखर की ?
जो नही पराजय गौरीशंकर की है,
वह विजय हुई कैसे मानव की इसपर ?
जब द्वंद्व नही, तब विजयपराजय कैसी ?"

(२)

चिन्तक, द्रष्टा की
है यथार्थ यह वाणी !
यह विजय नही,

केवल अनुभव,
है ज्ञान एक,
उपलब्धि एक,
संपर्क एक,
जो अब तक दुर्लभ रहा मनुज को जग में।
यह एक प्रतीति, जिसे पाने को मानव
करता आया था यत्न, साधना अब तक।
साधना सफल होने पर हो जाते है
साधक विनम्र, अंतर्मुख, सौम्य, सुभाषी,
वे कभी न होते उद्धत या अभिमानी !
वे नही बोलते कभी विजय की भाषा !
इस नई सिद्धि पर मानव अंतर्मुख हो,
आनन्दित हो, कृतकृत्य, न हो, पर, गर्वित !
मानवता की यह एक सफलता, जिसका
साधन है मानव एक
ज्ञान का अथवा
सम्पर्कलाभ का आरोहण के द्वारा,
हो नाम भले ही उसका चाहे कोई,
राधानाथ,
एवरेस्ट,
तेनसिंह,
हिलेरी,
हंट
या कोई और !

मानवता सारी एक,
एक सारा भूमंडल!
गौरव यह श्रेष्ठ शिखर सारी मानवता का ;
पहले अज्ञात रहा,
ज्ञात हुआ तदनन्तर,
प्राप्त हो गया है अब ;
फिर भी यह है अजेय !

(३)

वैभव के, साधनों के,
सत्ता के, प्रतिष्ठा के,
डिंडिम का नाद प्रबल
सत्य को था चाह रहा ढक लेना;
फिर भी था सत्य सत्य !
देखो वह श्रमजीवी,
साधारण, निराधार,
जिसका यश रोक रखा
वैभव ने कई दिवस !
फिर भी वह हुआ व्याप्त
आज विश्व भर में !
निस्साधन,
निस्संबल,
निर्धन यह पार्वतीय
प्रकट हुआ

साधना का तेज लिए
निकल एक कोने से
भूमंडल मे समस्त !
धरती के जिस सुत का
प्रथम चरण
सर्वाधिक ऊँचे इस
वक्ष पर हिमाद्रिशृंग के पड़ा,
उसका भी जीवन है, उसकी भी एक कथा !
हिमकुठार कर मे ले
पद-पद-परिमाण कठिन
चढ़ता जो रहा सतत
बर्फीला यह पहाड़,
उसके भी जीवन की,
भोजन की, वस्त्रों की,
घर की, गृहस्थी की
पर्वत के आरोहण से भी थी
कठिनतर समस्याएँ,
जिनको हल करने में
प्राणों का रक्त नित्य
सूखता ही जाता था।
आरोहणसाधना मे
चिन्ता के कारण थीं
बाधाएँ आ जाती,
पत्नी की, पुत्रियों की,

शिशु-से प्रिय श्वान की भी
स्मृतियाँ सताती थीं;
फिर भी, यह अथक रहा, मौन रहा,
संयम का सौरभ ले, मन्दस्मित का पराग,
जीवन के फूल को खिलाए रहा;
लगा रहा साधना में दिवसरात्रि !
जीवन में इसके था जब अभाव,
श्रम ही का संबल था एकमात्र,
कितने ही तब मनुष्य,
नारी, नर और बाल,
अनायास,
जन्मजात
गौरव के,
वैभव के,
यश के,
प्रतिष्ठा के,
सत्ता के
शिखरों पर
चढ़े चले जाते थे।
यह था अज्ञात और
वे थे विख्यात !
युग बीत गए कितने ही
इसी भाँति !

(४)

आज युग बदला है !
श्रम के बल बढ़कर यह,
साधना से चढ़कर यह,
जग का सर्वोच्च शिखर
छूने जब पहुँच गया,
श्रम की हुंकार एक
उठकर तब फैल गई
हिमगिरि पर,
धरती पर,
अम्बर पर,
सागर पर।
साधना की कीर्ति-ध्वजा
लहर-लहर लहराकर
कहने यह लगी आज—
"वैभव असमर्थ जहाँ,
सत्ता निःशक्त जहाँ,
आडंवर व्यर्थ जहाँ,
मैं वहाँ यशस्विनी हूँ,
मैं सफल तपस्विनी हूँ !
अब बोलो, क्या अब भी
श्रम को तुम समझोगे
खर्व और साधना को
तुच्छ ही बताओगे ?

क्या अब भी
सत्ता के
विभवगीत गाओगे ?"
सुन यह ललकार प्रबल
काँप उठे चारणदल
सत्ता के, वैभव के,
पद के, प्रतिष्ठा के
थरथरथर, थरथरथर !
जाग उठे अब तो सब
सफलता की सूचना के बाद,
बोल उठे राष्ट्र विविध—
"आरोही वीर यह हमारा है,
साधक यह हम सबको प्यारा है !"
स्वागत के आयोजन,
संदेशों के प्रवाह,
आदर की, श्रद्धा की बाढ़ों की है बहार !
याद कर पुराने वे दुःखकष्ट,
बाधाएँ, संकट वे,
वे अभाव,
वज्र-सी उपेक्षा वह
और देख स्वागत का नया ठाट
मुसकराया श्रमजीवी आरोही,
मुसकराई उसकी वह धैर्यशील पत्नी भी,
युग-युग की आरोहणसाधना का साक्षी वह
अर्थगर्भ मुसकराया गौरीशंकर अजेय !

८।६।५३

———

अन्तर

(१)

उनको उद्यान चाहिए वह,
जिसमें रंगीन सुमन अगणित;
दो मुझे जुही की लघु कलिका
तुम श्वेत एक निज स्नेहांकित;
उसमे पाऊँ मै नन्दनवन !

(२)

उनको वे गंगा, कालिन्दी
चाहिए, करे जो जग निर्मल;
दो मुझे एक लघु निर्झर, जो
चिर-प्रवहमान हो विमल, सरल;
मै उसमे पाऊँ सिन्धु गहन !

(३)

उनको वे कर्ण चाहिए, जो
सुनते हुंकार शिखर की हों;

दो मुझे कान वे, जो पुकार
सुनते तल के अन्तर् की हों;
उनसे कर पाऊँ सत्य-श्रवण !

(४)

उनको वे नयन चाहिए, जो
देखें जग का मोहक वैभव;
वे लोचन दो मुझको, जिनमें
अन्तर् का रूप बसे अभिनव;
उनसे पाऊँ मैं शिव-दर्शन !

(५)

मिथ्या को मधुर बनाने का
चाहिए उन्हें रंजित कौशल;
दो मुझे सत्य-शिव-उन्मुखता,
साधना बने जिसका सम्बल;
उससे हो सुन्दर-आवाहन !

(६)

उनको वह कंठ चाहिए, जो
सत्ता का हो प्रशस्तिवाहन;
वह स्वर दो मुझको, जिससे हो
वंचित मानवता का वन्दन;
उससे कृतार्थ हो कविजीवन !

१२।६।५३

गति और जीवन

गति विश्राम बनी जीवन का।

(१)

निर्झर को देखा है, साथी?
वह अविरत चलता रहता है;
अपने दुख-सुख की गाथा भी
वह चलने ही मे कहता है;
चट्टानो के प्रतिरोधों को
वह गाकर, हँसकर सहता है।
गति सहचर उसके क्षण-क्षण का।
गति विश्राम बनी जीवन का।

(२)

मरण चाहता है थक जाना,
मरण चाहता है रुक जाना,
अन्तर् के स्पन्दन को खोना,
प्राणदीप की ज्योति बुझाना;

मरण अभाव स्नेह का, गति का;
निष्क्रियता का श्रान्त तराना।
जीवन अथक तेज यौवन का।
गति विश्राम बनी जीवन का।

(३)

जीवन पाता है, खोता है,
जीवन हँसता है, रोता है,
जीवन जगता है, सोता है,
उज्ज्वल या धुँधला होता है;
पर, जीवन का एक चिह्न है –
वह न कभी निज गति खोता है।
गति है काम बनी जीवन का,
गति विश्राम बनी जीवन का।

(४)

निरुद्देश्य यह गति मत समझो,
इसका प्रेरक लक्ष्य महत् है;
सुन्दर, सत्य और शिव के प्रति
आकर्षण अदम्य सन्तत है;
श्वास साधना की प्राणो में,
स्नेह-ज्योति उर मे जाग्रत है;
यह अमरत्व हृदय-स्पन्दन का।
गति विश्राम बनी जीवन का।

१५।६।५३

क्रान्ति और निर्माण

(१)

तुम वर्षा के स्वागत को उत्सुक, साथी,
उस आँधी के भय से होते हो कंपित,
जो पहली वर्षा के पहले आती है,
जिससे नभ-भू हो जाते है आच्छादित;

मै उस आँधी के स्वागत, अभिनंदन को
आगे बढ़ता हूँ हृदय खोलकर अपना,
जिसका अनुचर घन, विद्युत्, वर्षा, श्यामल
नवशस्यो का मेरे नयनो का सपना।

(२)

तुम नवल सृष्टि की करते विकल प्रतीक्षा,
पर, उसके पहले प्रलय-क्रांति जो आती,
उससे आतंकित, आशंकित होते हो,
उससे बढ उर की धड़कन है बढ़ जाती;

मैं मंदस्मितरेखा ले निज अधरो पर,
उर मे आशा का अक्षय दीप जलाकर,
नवविश्वसृष्टि के स्वागत मे विप्लव के
पथ पर पुलकित होता हूँ पलक बिछाकर।

(३)

कितना प्रदाह, वड़वाग्नि, क्षार अंतर् में
संचित रख सागर गहन प्रतीक्षा करता,
कितनी ज्वाला, कितना उत्ताप सहन कर
भूतल निदाघ को निज प्राणों मे भरता,

तब दीर्घ विरह के तप के वाद मिलन की
घड़ियाँ आती, सागर का स्नेह उमड़ता,
प्यासी पृथ्वी के वक्ष स्थल पर घन वन
वह होने को उत्सर्ग अशेष घुमड़ता।

(४)

यह क्रांतिसृजन का, दुख-सुख का स्वाभाविक
क्रम है, इसको समझो, सीखो सहना भी,
यदि लाभ चाहते हो नवीन रचना का,
सीखो विनाश के उप-क्रम मे रहना भी!

मैंने तो विष की बूँद-बूँद मे अनुभव
है किया अमृत का हँसहँसकर क्षणक्षण मे,
जब-जब आने को हुआ सृजन का नवयुग,
ताण्डव विनाश का देखा है कणकण मे।

२२।६।५३

सत्य और स्वर्ण

स्वर्ण भी चिरकाल से है इस धरा पर,
सत्य भी रहता चला आया निरन्तर।
स्वर्ण की चेष्टा सदा से है रही यह–
सत्य का मुख ढके मायाजाल से वह;
सत्य का यह यत्न उतना ही पुराना–
स्वर्ण के मोहक प्रलोभन मे न आना।
आदि से यह द्वद्व चलता आ रहा है;
अत कोई भी न इसका पा रहा है।
इस चिरतन द्वद्व की है जो कहानी,
कथा मानवसाधना की वह पुरानी।
स्वर्ण के साधन अमित, विस्तार भारी,
चमक से उसकी चमत्कृत सृष्टि सारी,
दुर्ग है, प्रासाद नभचुम्बी खडे है,
वृद्धि, वैभव, कोप, आडम्बर बड़े है,
किन्तु, लघु अणु सत्य का जब एक निर्मल,
त्याग, तप का, साधना का, न्याय का बल

साथ लेकर, स्वर्ण को ललकारता है,
नही उसकी शक्ति से भी हारता है,
एक अद्भुत दृश्य तब होता उपस्थित,
तेज से वह सत्य के होता प्रकम्पित ;
पर, न ऊपर से पराजय मानता है,
स्वर्ण, हठ कर, सत्य से रण ठानता है ।
सत्य अतर्बाह्यसम, अविराम, अविजित,
स्वर्ण से सघर्ष करता है अकम्पित !
स्वर्ण के जो दास, वे है साथ उसके;
सत्य के निस्स्वार्थ साथी साथ उसके !
जो न इसके, समर्थक उसके बने है !
मार्ग दो ही मानवो के सामने है ।
तीसरा दल विश्व मे कोई नही है ।
सत्य ने आशा कभी खोई नही है ।
प्रश्न यह इतिहास का सबसे सतत है—
कौन किसके साथ इस रण मे निरत है ?

२६।६।५३

लघुता की कविता

(१)

अंकुर, तूल, विन्दु, रजकण, मत
लज्जित हो निज लघु जीवन से ;
तन से चाहे लघु ही हो तुम,
किंतु, बनो लघु कभी न मन से !

(२)

वह विस्तार मरण का पथ है,
जिसपर जीर्ण वृक्ष इतराया;
पर, हे अंकुर, निज लघुता मे
तुमने हरित भविष्य छिपाया ।

(३)

तुम जितने लघु, उतना तुमसे
दूर ह्रास; ध्रुव नवजीवन है ।
तुम हो, तो जग में आशा है;
तुम हो, तो जग में यौवन है ।

(४)

मूल रूप में, तूल, तुम्हारी
सरल वर्तिका बन जाती है,
लघु दीपक का स्नेह प्राप्त कर
ज्योति कुटी में वह लाती है;

(५)

पर, एकत्र करा तुमको जब
पट कपना वैभव तनवाता,
तुमसे उसके भवन-द्वार पर
तब प्रकाश का पथ रुक जाता।

(६)

हे लघु विन्दु, तुम्हीने, गिरि के
अंतर से युग-युग से झर-झर,
पूर्ण किए अगणित नद, सागर,
मानवता के आवाहन पर।

(७)

होकर द्रवित धरा के तप से
जब तुम घन बन नभ में छाकर,
मिलजुल, उमड़घुमड़कर, वर्षा
बन, लाते हरियाली भू पर,

(८)

कौन तुम्हारी लघुता से तब
जग में स्पर्द्धा कर सकता है;

यदि तुम न हो, गोद वसुधा की
कौन अन्न से भर सकता है ?

(९)

हे रजकण, भू के निर्माता,
हे वन के, गिरि के उत्पादक,
हो एकत्र, मृत्तिका बन, तुम
तप-तप कर बनते हो दीपक;

(१०)

करती जो संघर्ष तिमिर से,
पवन-प्रकंपित, पर, अविरत है,
तुम देते आधार उसे, जो
ज्योति सौम्य, साधनानिरत है।

(११)

गिरि होना है सरल, खड़ा है
जो लेकर आधार तुम्हारा;
धरती होना सरल, मिला है
जिसे तुम्हारा मूक सहारा;

(१२)

रजकण होना कठिन, दृष्टि से
जो सबकी ओझल रहता है।
जो औरों को बना, उपेक्षा
स्वयं सदा जग की सहता है।

(१३)

जो कुछ लघु, जो मूक, उपेक्षित,
जो उत्सर्गशील, जो विस्मृत,
जो कुछ वंचित जग में, वह सब
कवि का जीवनधन, चिर-आदृत;

(१४)

लघु मेरे आराध्य, उपेक्षित
सृष्टि प्रेरणा हैं यौवन की;
लघुता की कविता कविता है
मेरे प्राणों की, जीवन की।

११।७।५३

आधुनिका

(१)

आधुनिका !
है बहिरंग तुम्हारा यद्यपि
होता प्रतीत इस युग से सहज प्रभावित,
अपने अन्तर् की मूल प्रकृति मे तुम भी
वैसी ही नारी, जैसी होती आई
है नारी युग-युग से जग के आँगन में ।
तुममे क्षमता है, दुर्बलता भी तुममें,
सकोच और साहस दोनों है तुममे,
तुम भी पुत्री हो, पत्नी हो या माँ हो,
जग से, जीवन से जुड़ी हुई हो तुम भी,
मानवता से सम्बन्ध अटूट तुम्हारा ।
उस वर्तमान की तुम हो अभिनव रचना,
जो पृष्ठभूमि पर है अतीत की उत्थित,
है जिसका लक्ष्य भविष्यत् ऐसा उज्ज्वल,
जिसमे मानवता एक. एक भूमंडल,

जिसमे समता, सम्मान, न्याय पाने का,
सबको अबाध अधिकार, न जिसमें शोषण !
तुम ऐसे जग का सृजन चाहती करना।
इच्छुक हो वह सब देने को, पाने को,
जो न्याय्य प्राप्य हर नारी का, हर नर का;
दायित्व वहन करने को वह तुम उद्यत,
प्रत्येक मनुज का जो जीवनपंथ पर है।
है नही तुम्हे स्वीकार भेद की सत्ता,
तुम नही चाहती उसके आगे झुकना,
तुम प्राचीरों को ढहाढहाकर हँसती,
होती प्रसन्न तुम तोड़तोडकर वन्धन।
तुम नही वंदिनी रहा चाहती उसकी,
जो विषम व्यवस्था शोषक है मानव की।
उद्देश्यपंथ पर चरण बढाती हो तुम,
कंपित होती, गिरती, रुकती, फिर चलती।
अपनी सारी क्षमता, दुर्बलता लेकर,
स्वीकार करो वंदन, अभिनदन कवि का !

(२)

आधुनिका, तुमसे एक प्रश्न है युग का।
सबसे पहले जब जग की सबसे ऊँची
चोटी पर पहुँचे चार चरण मनुजो के,
तब उनमे दो क्यों नही तुम्हारे पग थे ?
क्यो न उस साधना मे था भाग तुम्हारा ?
क्यों समता की हुंकार भूलकर अपनी

उस आरोहण से वंचित रहना तुमने
स्वीकार किया, इस भाँति झुकाया अपना
उन्नत मस्तक उस भेदभाव के आगे ?
असफलता ? असफलता की क्या चिन्ता थी ?
है बना सफलता-असफलता से जीवन ।
है खेद, नही चेष्टा स्वतत्र भी तुमने
उस ओर दिखाई करके अब तक जग को ।
यह प्रश्न नही उत्साहभग का प्रेरक,
संकेत आत्मचिन्तन का इससे लो तुम ।
तुम जहाँ-जहाँ हो जग मे, अब भी उठकर
संगठित करो अपना प्रयत्न भी ऐसा,
जो भावी इतिहासों मे अकित होकर,
घोषणा करे यह—तुम भी सहभागी थी
उस चेष्टा मे, जो की मानव ने अविरत
जग के सर्वोच्च शिखर पर पग रखने की
तुम सिद्ध करो अपना समता का दावा ।
श्रम पर नर का एकाधिकार मत मानो ।
कठिनाई ? कठिनाई तो मन का भ्रम है ।
तुम जन्ममरण के बीच किया करती हो
जीवनभर जो श्रम, कष्टसहन जो भारी,
उस सबको कर सगठित, प्रयुक्त करो यदि,
जग मे कोई भी कार्य न दुष्कर तुमको
सकोच और साहस के बीच तुम्हारी
क्षमता बँटकर दुर्बलता व्यर्थ बनी है ।

सर्वज्ञ हुईं, अपने को भी पहचानो;
छोड़ो मिथ्या संकोच, शक्ति निज जानो !

(३)

आधुनिका, तुमसे एक प्रश्न है कवि का।
क्यों तुम परोक्ष प्रोत्साहन देती उसको
अपनी निष्क्रियता और मौन से प्रतिदिन,
जो कला, गान, साहित्य, चित्र वन-वनकर
विकता है जग मे और छिपा है जिसमें
लज्जास्पद, मांसल, पार्थिव, नग्न नमूना
नर के पशुत्व के नारी के प्रति मादक
आकर्षण, संमोहन, विकार, वन्धन का ?
क्या तुम्हे चाटुकारी के मधु मे लिपटा
वह विपमय मद प्रिय लगता है; क्या तुम भी
होती उससे आकृष्ट, तभी करती हो
चुपचाप सहन उसको निष्क्रिय, नीरव रह ?
आवरण नही क्या तुम्हे दिखाई देता
वह कौशल का, जिसके नीचे पशुता है ?
क्या नही तुम्ह अनुभव होता, वह मदिरा
प्राचीन, नए पात्रो मे आज सजाकर,
रंगीन, सूक्ष्म, नूतन चित्रो से चित्रित,
हैं बेच रहे कितने ही नर इस जग मे ?
नारी का यह अयथार्थ, अशिव, कल्मषमय,
व्यापक चित्रण क्या नही असुन्दरतम है ?
अपमानजनक क्या नही तुम्हें यह लगता ?

आघात नही क्या इससे उर पर होता ?
क्या नही घृणा होती है तुमको इससे ?
विद्रोह नही क्यों होता जाग्रत तुममे ?
क्यो नही चाहती हो तुम यह आडम्बर
साहित्य, कला का भस्म बनाना अपने
नारीत्वतेज से करके दग्ध समूचा ?
क्यो नही चाहती स्वयं सृजन वह करना,
वास्तविक रूप जो व्यक्त करे नारी का
साहित्य, कला, सगीत, चित्ररचना मे ?
यह जग कबसे है तरस रहा पाने को
दर्शन उस रचना का, जिसमे नारी की
प्रतिभा नारी का असली चित्र उतारे;
शिव, सत्य और सुन्दर जो कुछ नारी मे,
अविकल, अविकृत वह उसमे दे निज दर्शन !
तुमने शिशु अब तक किया अंक मे धारण,
शस्त्रास्त्र उठाकर भी निज तेज दिखाया;
तूलिका, लेखनी, नवल, दीप्त प्रतिभा से
प्रेरित हो, अपने कर मे आज उठाओ !
रचनामयि, नूतन सृजन-दिशा मे आओ !
अब विष, मदिरा के विन्दु असह्य हुए है ;
तुम सिन्धु अमृत का कला-क्षेत्र मे लाओ !

(४)

मानवता का भी एक प्रश्न है तुमसे ।
तुम कभी-कभी क्यों करती सहन खिलौना

वनना नर के कर मे, जव तुमने पाई
उतनी ही क्षमता, जितनी नर को दी है
समदृष्टि प्रकृति ने न्याय-भाव से जग मे ?
क्यो कभी-कभी तुम नर को अपने कर का
क्रीड़ा का पात्र वनाना चाहा करती,
जव तुम्हे विदित है—जीवन खेल नही है,
दायित्व और सघर्ष सार है इसका ?
समता का तुम उद्घोप करो, अच्छा है ;
समता को जीवन मे भी, किन्तु, उतारो !
तुम वनो कदापि न खर्व पुरुप के आगे;
अपने आगे भी उसे न खर्व वनाओ !
वहिरग न उसका तुम्हे लुभाने पावे ;
तितली वन तुम मत उसे लुभाने जाओ !
समता, सात्त्विकता, स्नेह, विमल ममता ले,
सहयोगभाव से, साथ-साथ, मिलजुल, जव
नर, नारी दोनो नई व्यवस्था लावे,
वैषम्य और शोषण के वन्धन काटे,
मानवजीवन को जीने योग्य वनावे,
समता का सच्चा स्वप्न तभी सार्थक हो !
आधुनिका, तुमसे तव जग गौरव पावे !

२५।७।५३

बेकार !

(१)

सागरमंथन से भूतकाल मे जैसे निकला हालाहल,
तू वर्तमान की विषम व्यवस्था की वैसी सन्तान !
अपने अभाव की ज्वाला मे तू जलता है दिनरात !
ओ निर्धन, निस्सबल, वंचित, बेकार !
इस जग के सबसे निचले तल पर स्थित तू !
तू चाह रहा है कार्य, जिए जाने भर का अधिकार !
दायित्व प्रमुख तेरे जीवन को नरक बनाने का जिनपर,
वे जग की ऊँची चोटी पर है; पर, वे भी बेकार ।
श्रम वे करते है नही कभी; पर्याप्त समझते वे इतना—
वे उस सत्ता के स्वामी है,
मनुजों के निर्मम शोषण को
अधिकार समझती जो अपना ।
है समय रिक्त तेरा अभाव पर अपने अश्रु वहाने को,
निष्ठुर वैभव के द्वार-द्वार पर जाकर ठोकर खाने को ।
अवकाश उन्हे भी है, पर, उसमे भव्य भवन मे बैठे वे

अंतिम हड्डी तक भोगों की चूसना चाहते है लोलुप !
कुछ काम नही मिलता तुझको,
तू फिरता है लाचार ।
है चारों ओर उपेक्षा तेरे, बन्द वज्र-से द्वार !
श्रम मिले तुझे, यदि, निःस्पृह हो,
तू पूँजी को श्रमदान करे,
पाषाणों को अपनी श्रद्धा से पूज-पूज भगवान् करे,
यदि श्रम के बदले अन्न,वस्त्र माँगे न कभी,
मुख बन्द रखे, बस औरों के हित काम करे;
तू निर्धन करता माँग काम की जब ऐसे,
जिसके बदले तू अन्न, वस्त्र, घर भी पावे,
मच जाती हलचल धनवाले बेकारों मे,
उनके आश्रित विद्वानों, सत्तावालों मे;
वे सब कह उठते एक सधे - से स्वर मे यों—
तू जटिल समस्या अर्थजगत् के जीवन की !
कह उठता उनसे सत्य तभी साहस करके—
है सृष्टि समस्या यह तो तुम लोगों ही की !

(२)

ओ वंचित अंग मनुजता के !
शोषित वर्गों की चरम दुर्दशा के प्रतीक !
अपमान सहेगा तू कब तक ?
इस विषम व्यवस्था मे जग के जीवन की
पददलित रहेगा तू कब तक ?
तू ऐसा है, मिलते न जिसे

श्रम और रोटियाँ दोनो ही;
अधिकांश मनुज ऐसे जग मे,
जो श्रम पाते, पर, नही जिन्हें
भरपेट रोटियाँ मिल पाती !
वे भी तेरे ही साथी है,
लटका करती जिनके सिर पर
तलवार सदा बेकारी की !
तू उन्हे साथ लेकर अपने
नेतृत्व क्राति का कर ऐसी,
जो रक्तपात के विना विश्व का
रूप बदल दे, जिससे यह
सत्ता धनवान् निठल्लो की
हो भस्मसात्, नि.शेष, नष्ट,
जो जूआ बन कधो पर उनके
चढ़ी हुई है युग-युग से,
जो श्रम करते रहते अविरत,
फिर भी, अधभूखे, अधनंगे,
जीवन का नरक विताते है,
जो स्वयं जानते है कैसे
इस जग मे जीते जाते है !
जब रोटी,कपड़ा, कुटी नही,
तब जीवन क्या, तव संस्कृति क्या ?
बेकारी, भूख, ग़रीबी से
तिल-तिल कर यों मरते जाना

हं मरण घृणास्पद कायर का !
यो धूमिल घुटघुटकर मत जल,
वेकार, भड़क, प्रलयानल वन !
अपने प्राणो की ज्वाला से
अन्याय, विषमता यह सारी,
यह धनसत्ता की मक्कारी
दे फूँक, भस्म पर इसकी फिर
संसार वसा ऐसा नूतन,
जिसमे कोई भी मनुज नही
तरसे श्रम, अन्न, वस्त्र, घर को ।
तू एक अकेला निर्वल था,
अव तेरे पीछे सव शोषित,
ये तेरे वल, ये दल के दल !
अगणित, अनन्त, अविजित, अविरत,
तू इन्हे साथ लेकर अव चल;
मत ताक किसी ऐसे का मुँह,
जो श्रम से जान चुराता है,
पूँजी पर मौज उडाता है,
जो "काम नही है" कह-कहकर
तेरा आग्रह ठुकराता है !
तेरी ज्वाला मे जलना ही
एसे लोगो का है भविष्य !
तेरा भविष्य है भव्य, नया जग
तुझे नया जीवन देगा,

अधिकांश मनुष्यों से मिलकर
तू जिसे बनानेवाला है !
बेकार रहा अब तक, अब तू
बेकार न रहनेवाला है !

८।५३

रवीन्द्रनाथ

(१)

संस्कृति के रवि, तुम चले गए
करने नव जग को आलोकित;
स्मृतिरश्मि तुम्हारी इस जग को
भी सदा रखेगी, पर, ज्योतित।

(२)

साधना तुम्हारी मानव को
आशासन्देश बनी अक्षय;
जो मिली सफलता थी तुमको,
वह मानवता ही की थी जय।

(३)

मानव से बने महामानव,
गिरिशिखर बने तुम रजकण से,
निर्झर से बने महासागर,
विप्लवआलोड़न स्पन्दन से।

(४)

लघु से महान् बनने का जब
जिस साधक का होगा प्रयास,
तुम होगे उसके जीवन के
विश्वास, प्रेरणा, समुल्लास।

(५)

माता के पय के साथ मिली
थी तुम्हे अमृतमय जो भाषा,
उसके माध्यम से सर्वप्रथम
दी तुमने जग को नवआशा,

(६)

नूतन जीवन, नवमूल्य। नवल
तूलिका कल्पना की लेकर
छवि सत्य, सरस, शिव, सुन्दर की
तुमने आँकी मानसपट पर।

(७)

जगयात्रापथ पर तुमने जो
पाथेय पिता से था पाया,
संस्कृति, परिधान और दर्शन
बन वह सबके सम्मुख आया।

(८)

हे पूर्णपुरुष, चिरसृजनशील,
हे अथक कर्म के पुण्य-धाम!

श्रद्धा तुमसे निर्मल होती,
होता पुनीत तुमसे प्रणाम !

(६)

अंतिम श्वासों तक इस जग का
तुमने दायित्व निभाया था;
नवजग में करने गए कर्म,
जब उसका इंगित आया था।

(१०)

तुम स्मृतिकाया में यहाँ अमर,
तुम सृजनलोक में सदा अजर;
जो दान दे गए मानव को,
वह सदा सरस, वह अविनश्वर।

(११)

आरती सँजोता स्मृतिदिन पर
शब्दो के दीपों की मानव,
हे ज्योतिपुज, तुम करते हो
स्वीकार उसे, देते गौरव;

(१२)

पर, अपने आप चमक उनकी
फीकी पड़ने लग जाती है,
जब प्रभा तुम्हारी यशमहिमा–
की उनके सम्मुख आती है।

(१३)

हे मानवता के कलाकार,
रसस्रष्टा, चिन्तक, हे उदार,
तुम भरे रहे अपने उर मे
मानव के प्रति करुणा अपार।

(१४)

मानव को अपनी सब महिमा,
सब दुर्बलता के साथ-साथ
स्वीकार किया तुमने, उसके
मस्तक पर अपना रखा हाथ।

(१५)

तुममें गिरि का गौरव भी था,
रजकण के प्रति भी अमित प्यार;
तुम सागर से गभीर, बिन्दु
भी तुम्हें चाहता साधिकार।

(१६)

बड़वानल सी तुम पिए रहे
अपने अंतर् की व्यथा-आग;
कवि ठाकुर, रहा तुम्हारा जग—
पर सदा बरसता स्नेहराग।

९।८।५३

कवि और मानव

दंभ न कर जग के सुधार का,
कवि, मानव को प्यार किए जा !

(१)

प्यार, कि जो निर्झर-सा उर की
दृढ़ता चीर वहा करता है,
मर्मकथा अतर् की अंतर्-
से जो सहज कहा करता है,
प्रतिदानो की आकांक्षाओं-
से जो दूर रहा करता है।
तू उत्सर्ग-स्नेह से जीवन-
मरु मे रससंचार किए जा !
दंभ न कर जग के सुधार का,
कवि, मानव को प्यार किए जा !

(२)

तम, प्रकाश की भाँति मनुज में
बल भी है, दुर्बलता भी है;

प्रगतिपंथ पर आदिकाल से
यह रुकता भी, चलता भी है;
धूपछाँह का सतरंगीपन
उगता भी है, ढलता भी है।
रुके क़दम से घृणा न कर तू,
चलते को उत्साह दिए जा!
दंभ न कर जग के सुधार का,
कवि, मानव को प्यार किए जा!

(३)

अपने जीवन के छिद्रों से
प्राण-श्वास ऐसा निस्सृत कर,
मानव के जीवन के छिद्रो–
को जो स्नेह-स्वरो से दे भर;
मानव की अपूर्णता वंशी–
बन गुंजित कर दे भू, अम्बर।
अपने मधु से मधुर मनुज के
अंतर् का तू अमृत पिए जा!
दंभ न कर जग के सुधार का,
कवि, मानव को प्यार किए जा!

(४)

स्वाभिमान का शिखर, विनय का
लघु रजकण हो जिसका अंतर्,

हासरुदन, सुखदुख की लहरों—
का जिसका उर हो रत्नाकर,
कंपित पद, दृढ़ निश्चय, दोनों,
ले जो चढे साधनागिरि पर,
ऐसा मानव जिए युगों तक,
तू भी उसके साथ जिए जा!
दंभ न कर जग के सुधार का,
कवि, मानव को प्यार किए जा!

२२।८।५३

संयम और क्रान्ति

(१)

शिव का सृजन, विनाश अशिव का,
दोनों, साथ-साथ जो करती,
क्रान्ति उसे कहते हैं; उससे
ढलता जीर्ण, ऊगता नूतन।

(२)

घृणा, क्रोध, चीत्कार, ध्वंस ही
नई व्यवस्था ला न सकेंगे;
यौवन, कुछ संयम भी सीखो,
कुछ साधना, चिन्तना, सर्जन!

(३)

कंठ गरल से नील हुआ, पर,
संयत सर्वनाश की ज्वाला;

व्यथा रुद्ध, उल्लास पदों से
व्यक्त, किया जब शिव ने नर्तन ।

(४)

कटु सहकर उत्सर्ग मधुर का
जो अविरत करता चलता हो,
वह यौवन नवयुग की आशा,
उसमे नवसंस्कृति का स्पंदन ।

(५)

रक्त मात्र ही नही, स्वेद भी,
श्रम भी चढ़ता बलिवेदी पर,
बिना सफलता का मुख देखे
यत्नों का कटता सब जीवन,

(६)

नए विश्व की नई नीव में
एक ईंट तब लग पाती है;
ऐसे अमित, अथक, अज्ञापित
बलिदानो का फल परिवर्तन ।

(७)

बीजरूप बलिदान धूल में
मिल जब नामशेष हो जाते ।

संयम, धैर्य, साधना करते
युग-युग तक जब जीवनसिंचन,

(८)

तब सुख के फल, सुमन सुयश के
आगामी पीढ़ी पाती है;
क्रान्तिकारियों की सार्थकता
है कर्त्तव्यमात्र का पालन।

५।१।५३

उच्छ्वास

(१)

चाँदनी रात में शशि के कर
तरु के पत्तों पर करते हैं
जब चाँदी का शीतल प्रलेप
मानो होकर अतिशय उदार,

(२)

विस्तृत, अगाध सागर का उर
जब आलोड़ित होता, उसमें
आत्मार्पण की अभिलाषा-सा
जब उठता है उद्दाम ज्वार,

(३)

जब अरुणोदय की उषाकिरण
कण-कण को स्वर्णिम आभा में
है स्नान कराकर वसुधा पर
ले आती एक नया जीवन,

(४)

जब इंद्रधनुष के रंगों मे
जीवन पाता अभिव्यक्ति सरस,
मादक वसन्त बन आता है
जब शिशिरावृत जग मे यौवन,

(५)

जब प्रेमनिवेदन-सा निर्झर
झरता गिरिअतर् गहन चीर,
जब घन के उर का मधुर भार
हलका होता बनकर फुहार,

(६)

जब सुरभित मलयपवन आता
दक्षिण से ले यह गंध-मत्त
संदेश—'उठो, हो मिलनातुर,
खोलो जीवन के रुद्ध द्वार',

(७)

तब कर पाते वैभवशाली
ही प्रकृतिरूप का वह दर्शन,
ऐसे क्षण पाते सरस वही,
अवकाश दिलाता जिनको धन,

(८)

वे श्रमिक नहीं, जीने भर को
जो अविरत श्रमबन्धन में बँध,
पिस-पिस, घुट-घुटकर, तड़प-तड़प,
काटा करते जीवन के क्षण !

२१।६।५३

अभिनव क्षेपक

(१)

रामायण है अगाध।
क्षेपक उसमे अनेक,
मिला गए युग-युग के कवि कितने
गोरस मे जिनको जल के समान।
क्षम्य हुए उनके अपराध सकल,
क्योकि नाम रख गए वे अपने अज्ञात सभी।
कलियुग का ज्ञात-नाम
अधुनातन कवि भी यह
रत्नों की राशियो में
अपना भी काच-सम
क्षेपक यह करता है
अर्पित, हो विगतभीति,
क्षमा नही चाहता है;
चाहे जो दंड मिले
महाकवि की आत्मा से।

उन्नतशिर सह लेगा
तापस का वह प्रसाद ।
अच्छा तो, क्षेपक यों चलता है,
छंदहीन, अभिनव यह;
मिलकर भी अलग-अलग रहता है :—

(२)

लंका का ध्वंस कर,
रावण की सेना का करके संहार, लौट,
विरहिणी अयोध्या को
युग-युग के विछुड़े जब राम मिले,
काया को प्राण मिले,
बोले हनुमान् तब —
"कितना विध्वंस किया ;
लंका में नाश ही का,
वैर ही का, द्वेष ही का,
क्रोध ही का जीवन को
मानो था कार्य मिला ।
एकांगी जीवन वह !
होने को मुक्त आज प्राण छटपटाते हैं
प्रतिहिंसा, स्पर्धा, प्रतिशोध आदि
विध्वंसक भावों के पाशों से ।
रचना की, स्नेह की, प्रशांत, स्वच्छ साधना की,
कर्म की, ममत्व की अयोध्या में सुरसरिता

आज हम बहावें; हे वानरदल, जुट जाओ !
आओ हे, आओ हे !
हो पवित्र हृदय, प्राण !"

(३)

सुनकर आह्वान मधुर,
अद्‌भुत वह नायक का,
वानरो की चीटियों-सी पक्तियाँ असख्य चली;
मौन, शान्त, संयत हो, कर्मलीन अविरत हो,
विरहिणी अयोध्या का नवरचनाकार्यों से
करने शृंगार लगी;
मानव को अतर् के
निष्कपट, प्रगाढ़, मधुर
भावो से करने वे प्यार लगीं।
क्रम-क्रम से प्राणवती हो उठी अयोध्या पा
नवसमृद्धि, योजना, सहायता, विकास, स्नेह।
रचनात्मक कार्य मे लगे थे जब
ममतामय वानर सब,
चिरविनाशवृत्तियों के वानर कुछ,
एक ओर, कदलीवन देखकर अयोध्या के,
जुट पड़े विनाश ही मे;
कदलीफल खाते थे,
हिंसारत, पत्तों को धूल मे मिलाते थे,
यही नही, जड़ से उखाड़ वृक्ष

लातों से कुचल-कुचल करते नि.शेष उन्हें।

(४)

उत्पाती, विध्वंसक, वानर वे,
रक्तानन, कृष्णानन,
दीर्घ पुच्छ, सघनकेश,
उत्कट, उद्घोषधृष्ट,
अनुशासनहीन, वैर,
हिंसा के, द्वेष के, अभद्रता के
वज्ररूप,
विवरण के साथ दुष्ट कृत्यों के,
नायक हनुमान् के समक्ष जब लाए गए,
बोले हनुमान्—" सुनो,
अतर् मे करुणा का, स्नेह का नही है कण,
रचना के, संयम के ऐसे चिरशत्रु तुम,
केवल विध्वंस, नाश अविरत तुम्हारा कार्य,
राघव के अनुचरो के दल के अयोग्य तुम,
एकमात्र रावण के दल के उपयुक्त तुम।
जीवन मे नाश भी है, रचना भी,
भूल गए चरम सत्य;
न्याय और शांति के समर्थन में
लंका मे क्रांति सत्य,
रचना है सत्य अब अयोध्या में।
तुम केवल ध्वंस, वैर,

एकमात्र नाशकार्य जानते हो;
जीवन मे एकागी
हिंसा की लंका ही लका है,
शातिपूर्ण रचना की प्रिय नही अयोध्या है।
लका के योग्य तुम, रावण के योग्य तुम।
इस युग मे रावण नही है शेप।
देता हूँ शाप तुम लोगो को आज यही—
कलियुग मे हिसा के रावण के साथी बन,
मानव का रूप धरे दानव बन,
पाओगे लाछन, कलंक, शाप ऐसा तुम
विश्व से, कदापि न जो
मिटे, बने वज्रलेख स्मृति के इतिहासो मे।
कलियुग मे तापस जब एक, लिए
प्रेम का, अहिंसा का,
सत्य, शील, रचना का,
शाति का, समन्वय का
निर्मल सन्देश नित्य घूमेगा,
तुम सब मिल कर दोगे उसका वध।
दूसरा तपस्वी फिर
समता का मत्र लिए
ग्राम-ग्राम, नगर-नगर, पंथ-पंथ
जब अलख जगाएगा,
तुम सब मिल उसपर भी करोगे प्रहार ऐसा,
मानवता जिससे हो मर्माहत !

वह हिंसा, ध्वंस का जघन्यतम
करने से कार्य प्राण तुम सबके काँपेंगे;
अन्तर् में पश्चात्तापज्वाला तब
संभवतः कुछ ऐसी जागेगी,
हिंसा का, ध्वंस का दुराग्रह चिर
छोड़कर बनोगे तब
युग-युग के सत्य के प्रतीकरूप
'रचना' के राघव के अनुचरों के सहचर तुम!
रचना का, शांति का भी मूल्य तभी जानोगे !"

५।१०।५३

नीवँ और शिखर

(१)

यदि स्वर्ण शिखर पर चढ़े, उचित है चिन्ता;
पर, यदि स्वाभाविक शिखर भवन पर, क्यों भय ?
आधार शिखर का नीवँ और धरती है;
उसकी जय मे, इसलिए, उन्हीकी है जय ।

(२)

जब एक मृत्तिकातत्त्व जनक दोनों का,
तब शिखर-नीवँ में भेद दृष्टि क्यों माने ?
ऊपर या नीचे होना रचना-क्रम है;
कैसे जग अच्छा, बुरा किसीको जाने ?

(३)

जब शिखर उच्च हो, नीवँ प्रेमसे बोले —
"यह मेरा यश है, मैं इसमें हूँ उन्नत;"
जब नीवँ सुदृढ़, गहरी हो, शिखर कहे तब—
"यह मेरा जीवन, मैं इसपर आधारित !"

(४)

यह स्नेह और विश्वास समन्वय बन जब
ऊँचाई-गहराई का भेद मिटावे,
तब, आँधीतूफानो, ऋतुओ के सहकर
आघात, भवन उन्नत, अविचल रह पावे।

(५)

यदि बिखर जाय विश्वास, भवन रजकण हो;
यदि स्नेह न हो, मरु हो निर्माणनियोजन;
यदि नीवँ-शिखर मे ईर्ष्याद्वेषसमर हो,
दोनो का हो इतिहास शून्य का क्रदन।

(६)

यह मानवता का भवन सृजन है जिसका,
साधना युगों की है वह पुण्यपुरातन;
हर मनुज अंग इसका अभिन्न बन इसमे
लग करता है कर्तव्य सतत निज पालन।

(७)

कोई है इसका शिखर, नीवँ है कोई,
दीवार बीच मे है दोनो के कोई;
जो स्थानभ्रष्ट हो टकराया साथी से,
उसने निज गरिमा, गृह की महिमा खोई।

(८)

जो, नीवँ बना, कर रहा त्याग यश का है,
सम्मान शिखर के उर का बरसे उसपर ;
जो, शिखर बना, फहराता ध्वजा भवन की,
उत्साह नीवँ से उसको मिले निरन्तर ।

१६।१०।५३

वैभव और अभाव

(१)

प्राणों के प्रदीप वंचित हैं,
स्नेह मृत्तिकापात्र पा रहे ।
वे बुझने के निकट आ रहे,
पंक्ति बाँध ये जले जा रहे ।

(२)

कैसी दीपावली तुम्हारी,
नहीं हृदय का कण भी जिसमें;
पात्र अपात्र, अपात्र पात्र हैं;
वंचक मधुर प्रशस्ति गा रहे ।

(३)

स्वर्णभवन में बैठ विश्व की
विभव-ज्योति उसमें संचित कर

कुटियों में अभाव के तम के
पुंज तुम्ही घनघोर ला रहे।

(४)

इस कल्मष, अभिशाप, दोष से
बाहर ज्योति, अँधेरा भीतर।
क्या निज उर की अमा देख तुम
दीपावलि की शरण आ रहे?

(५)

ज्योति भवन में, तम अंतर् में,
जहाँ, वहीं वैभव की छाया;
जहाँ अभाव, ज्योति अंतर् में,
तम कुटीर में प्राण पा रहे।

(६)

पर, सँभलो, लो, सुनो, जयध्वनि
गूँज उठी नवयुग की सहसा,
विभववन्दना छोड कलाधर
साम्य-क्रांति के गीत गा रहे।

(७)

बदल रहे हैं मूल्य वेग से
मानवजीवन के वसुधा पर;
आज विगत आधार छोड़ते
वैभव और अभाव जा रहे।

(८)

प्राणों का ले स्नेहअर्घ्य जग
जब अभाव के कुटी-द्वार पर
पहुँचेगा, अर्चना करेगा,
वे क्षण हैं अब निकट आ रहे।

३०।१०।५३

कालिदास

(१)

हे मेरे मन के कालिदास,
जनजन के मन के कालिदास,
संस्कृति के, रस के हे प्रतीक,
हे भावमेघ के चिराकाश !

(२)

मानव बन जब तुम प्रकट हुए,
उसके पहले भी तुम थे ही,
तुम केवल व्यक्ति नही, तुम हो
साकार वेदना, अश्रु, हास ।

(३)

हे कलामूर्ति, हे कलाकार,
मानव आत्मा के हे शिल्पी,
कर पूर्ण चिरतनभावांकन
तुमने जब अंतिम लिया श्वास,

(४)

उस महामरणक्षण के जितने
अनुगामी क्षण अब तक आए,
उन सबमें तुम जीवित, जाग्रत
जनजन मे बनकर रसोल्लास ।

(५)

मालवप्रासादो का वैभव
वंदी तुमको कब कर पाया ?
मन मुक्त गगन के मेघ सदृश
करता ही रहता था प्रवास ।

(६)

सुख की सीमा के रुद्ध नयन
कब देख सके वह आलोड़न,
जो व्यथा, विरह पर प्राणों मे
अनुभव कर तुम होते उदास ।

(७)

जनता मे वितरित और निहित
सत्ता का विक्रम इस युग मे;
इसपर पुलकित जनजनव्यापक
हो रहे कला के कालिदास ।

(८)

जनसंस्कृति के स्तर की उन्नति
प्रतिपद जयघोष तुम्हारा है,
जनजन के मानस का विकास
अब, सुकवि, तुम्हारा है विकास ।

१६।११।५३

गायक कवि से

कंठ से तुम गीत गाते,
प्राण से मै गीत गाता।

(१)

दो किनारे है कला के, दो दिशाएँ वेदना की,
मैं पथिक हूँ एक पथ का, दूसरे के तुम पथिक हो,
भिन्न जग मे भावधारा और रसधारा हमारी,
एक का मै हूँ उपासक, दूसरी के तुम रसिक हो;
भिन्नता यह स्वस्थ है, कुछ भी नही है द्वेष इसमे,
प्राकृतिक है यह कि तुमसे जुड़ सका मेरा न नाता।
कंठ से तुम गीत गाते,
प्राण से मै गीत गाता।

(२)

तुम खिलो, फूलो कि तुमने कंठ का वरदान पाया,
रूप, आकर्षण, विभव मे प्रेम का भगवान पाया;
मैं नही लज्जित कि मेरे हृदय ने निज प्रेमपथ में
मौन, संयम, साधना चिर, वेदना, बलिदान पाया।

कंठ के संगीत से कुछ प्राण की भाषा पृथक् है,
तुम इसे भूलो भले ही, मैं न इसको भूल पाता।
कंठ से तुम गीत गाते,
प्राण से मैं गीत गाता।

(३)

कंठ-स्वर पर रीझकर जो सिर हिलाते, धन लुटाते,
वे श्रवणवाले सुलभ हैं प्रतिचरण इस विश्वपथ पर,
इसलिए, निश्चिंतता है झूमती स्वर में तुम्हारे,
वेदनागंभीरता में मग्न मेरे प्राण का स्वर;
प्राण जिसके पास, जिसके प्राण में समवेदना है,
प्राण का संगीत सुनने को वही इस ओर आता।
कंठ से तुम गीत गाते,
प्राण से मैं गीत गाता।

(४)

तुम सुखी, यदि हो सुखी जग में प्रिया केवल तुम्हारी,
मैं सुखी, यदि मनुजता भी हो सुखी इस विषम जग में;
स्वर तुम्हारा चाहता लघु परिधि पर अधिकार पूरा,
तुष्ट मेरा स्वर, मिले यदि मुक्त नभ संचार-मग में।
हैं पृथक् आराध्य यदि, तो क्यों पृथक् जीवन नहीं हो?
भिन्न होकर भी, तुम्हारा, किन्तु, मैं मंगल मनाता।
कंठ से तुम गीत गाते,
प्राण से मैं गीत गाता।

२८।११।५३

किसान और कलाकार

(१)

भूमिहीन यह भूमिपुत्र ;
इसकी आँखों की कोर
बाट जोहती—कब आवें
वे वामनपग इस ओर !

(२)

देश स्वतंत्र, न टूट सका
इसका दरिद्रतापाश;
राष्ट्र महान, रहा लघु यह,
पाया इसने न विकास ।

(३)

इसके सिर पर छाया जो
सूखा, सूना आकाश,
इसकी नयनपुतलियों का
उसमें अभावआभास ।

(४)

इस सर्वस्वहीन का मन
जिस दुख से आज अधीर,
पतझड़ की नगी डाले
उस दुख की है तसवीर।

(५)

यह निर्झर की भाँति करे
अविरत श्रम का उत्सर्ग,
उसके नदीसिंधुरस से
वंचित हो इसका वर्ग,

(६)

इसी न्याय पर आधारित
जो जीर्ण व्यवस्था आज,
उसके बल पर बन सकता
है कैसे नया समाज ?

(७)

अपनी प्रिया, गीत अपना,
सीमित दुखसुख का ध्यान।
कलाकार ने भी वंचित
करुणा से रखा किसान।

(८)

विश्ववेदना की कविता,
यह व्यथाकथा का सार ;

मानवता का मर्मस्थल,
संस्कृति का मूलाधार।

(९)

मिट्टी की सोंधी सुगंध,
श्रमकण के मोती मौन
जिसके प्राणों के सहचर,
उस जैसा रसमय कौन ?

(१०)

रस के अन्वेषक, नभ की
रंगीन कल्पना छोड़,
भू पर उतरो, रचना को
दो नई दिशा का मोड़।

(११)

स्वप्नों में जो छिपा रहा,
अब उसे करो साकार।
इस किसान के जीवन में
दो अपना स्वर्ग उतार।

(१२)

छोड़ो प्रिय, प्रियतमा और
बहुपूजित वह भगवान;
यह इनसान उपेक्षित है,
अब इसको करो महान।

६।१२।५३

प्राणप्रदीप

(१)

प्राण के ओ दीप मेरे !
ज्योति है कर्तव्य तेरा;
स्नेह है अधिकार तेरा ।
पर, असंयत स्नेहभिक्षा
तू न घर-घर माँगने जा !
स्नेह पाता पात्र
अपनी परिधि मे चुपचाप,
अपने आप ।
मौन से, एकात मे, जो शात,
अविचलित, अविभक्त
चिरविश्वास का फल,
प्राप्य संयमसाधना से,
स्नेह वह है ।
है बँधा वह पाश मे दायित्व के,

है सजग प्रत्येक मर्यादा चतुर्दिक् !
स्नेह सीमित है, इसीसे शेष है ।
बिखरकर वह नष्ट हो जाए,
बँटे हर ओर यदि ।
किंतु, सीमा का न बंधन
मानता या जानता जो,
वह प्रकाश, अगाध वह तो ।
फैलना, बँटना, बिखरना
और वितरित हुए जाना
दूर तक प्रत्येक कण मे
ज्योति के उत्सर्गजीवन की सफलता
और सार्थकता ज्वलित अस्तित्व की !

(२)

स्नेह से परिपूर्ण है तू, सत्य है,
दीप मेरे !
किन्तु, जीवनरात्रि लंबी है बहुत ।
एक क्षण का यह नही उन्माद है ।
भभककर पल मे नही नि.शेष होना,
स्नेह सब उत्तेजना मे नही खोना !
साधना है ज्योति देना,
स्नेह संबल साधना का,
एक को यदि है लुटाना,
दूसरे को है बचाना ।

स्नेह जीवित है तभी तक,
है नियंत्रण मधुर उसपर
आत्मसयम का निरंतर।

(३)

और, झंझावात भी आते बुझाने।
किन्तु, अपने साथ लाते
शक्ति भी वह,
प्राप्त होती प्राण को संघर्ष से जो ।
सिर्फ जलना ही नही है, जूझना भी,
जूझकर भी पवन से है शेष रहना
और फिर जलना, निरंतर जले जाना।
यदि नही साहस रहा,
यदि धैर्य छूटा,
बीच ही में ध्रुव[1]
किसी क्षण ज्योति बुझना!

(४)

यत्न से तू स्नेह को अपने सँजोकर,
र्वतिका की नोक से उत्सर्ग करके
ज्योतिकिरणो का, भले लघु हों, निरन्तर
तिमिर पर आघात कर,कर साधना यह।
जो अथक हो, साधना है नाम उसका।
पूर्णता ही साधना का अन्त है।
पूर्णता वह मुक्तिका होगी जगत् की,

ज्योति-प्लावन में दिवाकर की सभी जब
डूब जाएगा तिमिर का, रात का।
फिर भले ही छोड़कर
पतवार अपनी साधना की,
प्राप्त कर निर्वाण, तू भी डूब जाना
दिवस के उस ज्योतिपारावार में।
नयन सब तब कर उठेंगे वन्दनाएँ
भुवनभास्कर के महत्तम तेज की;
एक भी लोचन न तेरी ओर होगा।
पूर्णता, कृतकृत्य, सार्थक विनय लेकर
और निज अस्तित्व की ले मौन लघुता,
मग्न विस्मृति में, उपेक्षा में जगत् की,
शांति से सोना, सफल होकर, सवेरे!
प्राण के ओ दीप मेरे!

१४।१२ ५३

निर्झर

(१)

छोटा-सा निर्झर यह !
निर्जन मे झरता है।
एकाकी श्रोता यह
अपने ही स्वर का।
ज्ञात नही इसको यह
कि जो सतत जीवन का
करता यह रहता है
निर्मल उत्सर्ग सहज,
क्या उसका होता है,
क्या उससे वनता है,
नदी, नद, सरोवर या
रत्नाकर महासिन्धु,
अथवा वह धारा, जो
असफल हो मरु ही मे
बीच ही मे हो जाती

लुप्त शुष्क शून्यता मे।
सीखा है निर्झर यह
आत्म–त्याग निःस्पृह ही।
प्रतिफल के पाने की
भावना से, कामना से,
मुक्त हृदय इसका है,
वासना से मुक्त जैसे
अन्तर् हो वालिका का,
शुचि, सरल कुमारिका का।

(२)

महलों के स्वर्णमुकुट
मूढता के वैभव-से
हिलते थे नृत्य, गीत,
अभिनय की महफिल में,
करते थे कलाकारगुणियों को
रत्नहार अर्पित जव,
मोहमयी रजनी में
होते थे मुखरित जव
सरगमस्वर, रुनझुनगति,
तव निर्झर नृत्य, गीत
दोनों का पाता था
स्वाभाविक रस अपने
मधुर-मधुर झरने में

झरझरझर, झरझरझर !
जनगायक, जनकवि, जब
लोकनृत्य, अभिनय के
कलाकार जनयुग में
शतसहस्र जनता के
सम्मेलन, परिषद् मे
करते अभिव्यक्ति आज
चरण-क्षेप, मुद्रा, स्वर
आदि की कलाओ की,
पाते है 'वाह वाह,'
अभिनन्दन, पुरस्कार,
स्वागत, प्रमाणपत्र,
निर्झर यह झूम-झूम,
चूम-चूम मुग्ध भाव अपना ही,
आश्रय, प्रशस्ति और प्रोत्साहन
पाने की
आशा के विना, सतत,
नाचता है, गाता है,
पाता उसीमे है
आत्मानन्द,
ब्रह्मानन्द जिसे देख
खर्व हुआ जाता है।

(३)

शैलगर्भ कहता है
ओ निर्झर, तू मेरी कविता है।
अन्तर् की विश्वव्यथाऊष्मा ने
कर दिया विदीर्ण जब
ऊपर का आवरण कठोरतम,
तब तेरा सृजन हुआ।
सयम की पृष्ठभूमि,
साधना की, तप की, है
तेरा आधार, अजय,
अक्षय तू, अविरत तू,
इसीलिए तेरा है
यही स्वप्न,
यही लक्ष्य,
कल्पना है एक यही—
झरता ही जाए तू,
बहता ही जाए तू,
जगती से अपने लिए
कुछ भी न चाहे तू।

(४)

सागर जब रोता है—
"मै विशाल, मैं विराट्
रत्नाकर मै महान्,

वैभव की खान, किन्तु,
व्यर्थ हूँ, तृषातुर को,
खारा हूँ, खारा हूँ,
आडम्बर मेरा सब
बना अभिशाप मुझे",
गाता है तब निर्झर--
"छोटा हूँ, किन्तु, नही
लज्जित मैं लघुता पर।
रत्न नही, पर, स्वर है,
विभव नहीं, नृत्य मधुर,
एकाकी हूँ मैं, पर,
नही स्वार्थसाधक हूँ,
लेने का नाम नही लेता हूँ,
मैं केवल देता हूँ।
निस्संबल, किन्तु, सरल, निर्मल हूँ;
प्यास के सताए हुए पंथी को
भूतल के अमृत सदृश
शीतल, प्रिय, मधुर, स्वच्छ
जल का जब दान कभी देता हूँ,
तब खारे सागर की
महिमा की ईर्ष्या का
पात्र बना निर्जन मे
मन्दस्मित-रश्मियाँ बिखेरता हूँ।

भर आता हृदय इसी गौरव से
कि मैं नही वैभव का स्वामी हूँ,
महत् नही, मै लघु हूँ,
एकाकी, सीमित हूँ ।
निर्झर हूँ,
निर्जन में झरता हूँ।"

४।१।५४

युग-कवि से

(१)

वदनाएँ, भावनाएँ, कल्पनाएँ, कवि, तुम्हारी,
प्राणपिक की कूक जीवनआम्रकुजों मे वही है,
नभ वही, है आज भी सौरभ वही, मधुमय समीरण,
शस्यसुमनो से फलीफूली वही सुन्दर मही है।

(२)

है वही संसार, जिसका आदिकवि ने स्वप्न देखा,
रंग स्वप्नो का तुम्हारे भी सहज है व्याप्त इसमें;
वह मनुजताप्रेम तुमने भी हृदय का धन बनाया,
विश्वकविता को सदा से है मिली अभिव्यक्ति जिसमें।

(३)

तुम समय की, क्षेत्रकी सीमा, परिधि से मुक्त हो, कवि,
शब्द शाश्वत है तुम्हारे, अमर सर्जनसाधना है,
प्रथम कवि के हृदयतल से जो उठी थी हूक बनकर,
हृदय मे अब तक तुम्हारे वह अमर समवेदना है।

(४)

मनुजता गाती, कि स्वर है गूँजता नभ में तुम्हारा,
मनुजता रोती, कि बनकर अश्रु बहते भाव सारे,
मनुजता व्याकुल, कि हिल-हिल हृदय उठता है तुम्हारा,
मनुजता हँसती, कि खिल-खिल प्राण उठते हैं तुम्हारे।

(५)

देहनश्वरता कला की साधना की अग्नि में तुम
भस्म करते, कृतिअमरता दीप्त कुंदन छोड़ जाते,
शून्य मरघट-सा तुम्हारे विरह में यह विश्व लगता,
सुरभि-से संजीवनी की तुम जहाँ ले जन्म आते।

(६)

सिन्धु की गंभीरता, विस्तार जो है नाप पाया,
मुक्ति जो निस्सीम नभ की कर सका अनुभव हृदय में,
फूल की मुसकान के मधु का किया अनुमान जिसने,
शूल की पीड़ा चुभी जिसके मृदुल अंतर्निलय में,

(७)

जो दुखी की वेदना पर हो उठा व्याकुल व्यथा से,
जो सुखी के हर्ष पर नाचा कभी हो मत्त होकर,
जान सकता है वही कुछ मूल्य इस जग में तुम्हारा,
जो विभवनिधियाँ सकल हँस-हँस करे तुमपर निछावर।

(८)

तुम वही युगकवि, कि युगयुग के रहे जो कवि सदा से,
है वही मानव, कि अपने गीत, आँसू, हास लेकर
जो युगो से है चला आता बना आराध्य कवि का,
अर्घ्य जो उसको तुम्हारी कृति, उसीमे तुम अनश्वर।

१८।१।५४

दो दिशाएँ

(१)

वहुत ऐसे हाथ जग मे,
जो विभव की वंदना मे
नित्य उठते, नित्य जुड़ते;
जिस दिशा मे स्वर्णसंचय,
उस दिशा की ओर मुड़ते।

(२)

हाथ वे थोड़े जगत् में,
जो वहाँ उठते, जहाँ श्रम
नीवँ रखता नवभवन की,
फैलते वन अभयछाया
उभरते श्रमसगठन की।

(३)

वहुत ऐसे नयन जग मे,
जो चमक से स्वर्ण की खिच

लुब्ध, नत होते वहाँ हैं,
स्वर्ण के स्वामी मनाते
मधुविलासोत्सव जहाँ है।

(४)

नयन वे थोड़े जगत् में,
क्रांति की चिनगारियों से
दीप्त, करुणा से सजल जो,
देखते श्रमजीवियों की
ओर ममता से विमल जो।

(५)

बहुत ऐसे कठ जग में,
जो प्रशस्ति सदैव गाते
शक्ति, सत्ता और धन की,
स्वर बिके जिनके, छिनी है
मुक्ति जिनके प्राण, मन की।

(६)

कंठ वे थोड़े जगत् मे
सत्य जिनसे बोलता है,
स्वर निकलता साधना का,
रक्त, श्रमकण के अथक बलि-
दान की शुभ प्रेरणा का।

(७)

बहुत ऐसे चरण जग मे,
रूढ़ियों, परिपाटियों के
पंथ को जो सुगम पाते,
नाम सुन नवक्रांतिपथ का
जो ठिठकते, काँप जाते ।

(८)

चरण वे थोड़े जगत् में,
काट वन, पर्वत, नया जो
लक्ष्यपथ अपना बनाते,
साथ ले श्रमजीवियों को
मनुजता की मुक्ति लाते।

२५।१।५४

तारिका

(१)

तारिका,
तुम ज्योतिबाला
नील नभ की,
सुस्मिता, मन्दस्मिता,
सुकुमारिका, शुचि,
लघु, सरल हो।
तुम नही ध्रुव,
वह कि जो आदर्श है दृढ़ मानवों का,
योगियों का,
तुम नहीं हो शुक्र,
जिसकी प्रखर द्युति से
नयन मनुजो के
विवश आकृष्ट होकर
मुड़ पड़ा करते गगन की ओर।
तुम अकेली,

तुम अकिंचन,
एक कोने मे ।
तुम्हारी ओर जाते
नयन उस कवि के
सहज, सात्त्विक, सजल, शुचि,
जो कभी होता अकेला,
उन्मना,
खोया हुआ स्मृतिचिन्तना मे ।
एक ही उस दृष्टि से कृतकृत्य होकर
और पुलकित हो,
समझ अस्तित्व अपना
सफल, सार्थक,
परिधि निज मुसकान की किंचित् बढाकर,
एक क्षण को मान अपना धन्य जीवन,
दूसरे क्षण लाज मे, सकोच मे तुम
डूब जाती, ज्योति फिर भी मन लुभाती,
उभर आते,
याद आ जाते उसे तव,
देखता कवि जो तुम्हारी ओर,
निज प्रथम शुचि स्नेह के क्षण,
क्षण, कि जिनमे हृदय मे उत्सर्ग पहली बार जागा ।
विस्मिता, मुग्धा, यही वह दान ले जाता तुम्हारा ।

(२)

या पथिक वह देखता है,
देखता है तब तुम्हारी ओर,
पथ पर तम, शूल, झंझा
रोकते उसके चरण जब।
वह पथिक,
जो पंथ पर बढ़ता अकेला,
काँपते पग, काँपता उर साथ लेकर,
जो असबल, जो अनायुध।
देख वह लघुता तुम्हारी,
वह अकेलापन तुम्हारा,
वह असाधन साधना का
सरल जीवन,
और फिर भी मंद मुसकानें सँजोए
सजग रह अस्तित्व के क्षण
सार्थ करने मे निरत वह
विमल जीवन,
देख तुमको,
भूल जाता कुछ क्षणो को
वह कि कितनी दूर मंज़िल
और कितने शूल पथ मे,
चरण मे गति और सूखे
अधर–द्वय में

मद मधु स्मिति
जागती चलती सहज उसके,
न उसका टूटता धीरज अकेला।
यों अकिंचन को अकिंचन से,
अकेले को अकेली से
ज़रा आधार मिलता है,
गहन तम मे निशा के
सात्वना का फूल खिलता है।
तुम्हे भी ध्यान आता है—
हज़ारो वृहत् तारो मे
गगन मे यदि अकेली तुम
अकिंचन तारिका लघु हो,
धरा पर, तो, अकेला है
पथिक यह भी, चला जाता,
हज़ारों महामनुजो मे
अकिंचन यह, असंबल यह।
धरा पर तुम गगन से यों
सहज प्रतिबिंब निज पाती।
इसीसे हर्ष से नन्हे हृदय की परिधि भर आती।

(३)

न भी यदि देखनेवाला
कही तुमको मिले कोई,
न हो समशील कोई विश्व मे,

तुमको नही चिन्ता।
बड़ी तुम हो नही सकती।
न इच्छा भी तुम्हे इसकी।
जुही की एक कलिका-सी
रुपहली तुम
गगन के नील उपवन में,
न जिसकी खीचने तसवीर कोई
छाँह मे नभ की
निशा के स्तब्ध प्रहरो में
अकेले शून्य मे जाता।
सभी अपने घरों मे,
कोठियों, महलो, कुटीरों में,
जलाते दीप अपने स्नेह के अनुरूप।
उनमें मग्न रहते है।
सभी के पास,
सभव है कि, अपने प्रिय
"धरा के चाँद-तारे"
मुसकराते मधुर होते है।

(४)

तुम्हारी यह अछूती ज़िन्दगी,
ओ तारिका नन्ही,
जगत् की निधि अनोखी है।

ज्वलित अस्तित्व लघु निर्मल
स्वय मे पूर्ण, सार्थक है।
प्रकृति का दीप वह तुम हो
गगन के एक कोने मे,
कि जिसको ज्योति देकर भूल जाती वह।
यही उद्देश्य होता है
कि एकाकी कभी यदि हो
मनुज कोई कठिन पथ पर,
हृदय अथवा किसीका
हो व्यथित एकात रजनी मे,
गगन की ओर अपना शून्य भरने को
नयन यदि चितनाक्षण में
कभी कोई उठाता हो,
बनो तुम सान्त्वना, समवेदना,
समशीलता उसकी।
गगन की शुभ्र कलिका एक तुम ऐसी,
प्रकृति जिसको खिलाकर भूल जाती है।
यही वस लक्ष्य होता है
कि जव जो शून्य जीवन मे
अभागा मनुज यह सोचे
कि नीरस और है निर्गन्ध
उसका हो गया जीवन,
तभी तुम रूप, रस, सौरभ,
मधुर मधु की बनो अनुभूति,

भर दो शून्य क्षण
कुछ देर
उसके व्यथित जीवन के।
इसी उपयोग के बल पर,
विनत अस्तित्व के बल पर,
महत्ता, दंभ, गौरव को
चुनौती तुम बनी जाग्रत।
ज्वलित जीवन तुम्हारा लघु,
गिरोगी टूटकर जिस क्षण,
ज्वलिततर वह मरण होगा।

१।२।५४

महाश्मशान

(१)

यह प्रयाग का प्रचंड,
लोलजिह्व, रक्तज्वाल,
कुंभ का महाश्मशान।
पक्तिबद्ध इस तट पर
बहुतसी चिताएँ ये।
कर रही शिखाएँ ये
रक्तिम यह आसमान।
क्रंदन के, करुणा के,
दु:ख, शोक, वेदना के
प्राणों से, कंठो से
फूट रहे चीत्कार।
मानवता व्याकुल है।
तट ही पर नही दु:ख,
शोक की सहानुभूति,

नगर, देश, विश्व सभी
लेते उच्छ्वास सजल।
अंतर् मे एक शून्य अनुभव सब करते है।
भाग यह मनुजता का
सहसा दुर्घटनावश
आहत, पददलित,
क्रूर मृत्यु का शिकार हुआ,
धू धू कर जलता है,
घटना यह गहन करुण
अंकित कर पृष्ठों मे
लेखों, इतिहासो के
भस्म हुआ जाता है।
साक्षी है इस सबका
कुंभ का महाश्मशान,
जिसका रहेगा सदा
कणकण स्मृतिदशपूर्ण।

(२)

केवल शव नही, अपितु,
सामने चिताओं पर
चुनी गई जलने को
हत, आहत निष्ठा यह,
मूर्तिमती श्रद्धा यह
मानो मृदु, सहजसरल

मानव के प्राणों की।
धर्मभीरु, भक्तिनिरत,
भोली भावुकता यह
जलजल ज्वालाओं की
रक्तशिखामाला में
भस्म हुई जाती है।
श्रद्धा वह, जिसे पैर कुचल गए
भगदड़, अविवेक और
उस भय के,
सृष्टि अज्ञता की जो।
मनुजों के दल के दल
जो इसको रौंद गए,
उनके हर मानव को
भय था यह,
शंका यह
कि वह स्वयं हो न किसी
संकट का, मृत्यु का, प्रहार का शिकार कहीं।
एक-एक प्राणी का आकुल उर-कंपन वह,
स्वार्थ और कायरता,
भय, शंका, विह्वलता,
पुंजीभूत होकर समूह के असंयम में,
उन सब को पैरों से रौंद गई,
कोमलता जिनमें थी,

निर्बलता जिनमें थी,
श्रद्धा-मति जिनमे थी,
भावुकता जिनमें थी,
जो थे असहाय और
नम्र, विनत, शक्तिहीन,
रज से था जिनका सपर्क अधिक,
साधनों के सचय से वचित जो,
धन, सत्ता, वैभव का सुखमय, निश्चित जिन्हें
सरक्षण प्राप्त न था,
जिनमे अधिकाश रहे बाल, वृद्ध, भिक्षुक या
मूर्तिमती कोमलता नारियाँ।

(३)

सामूहिक कायरता
श्रद्धा को खा गई।
कितनो के प्राणो के
दीपक बुझा गई।
कुभ का महाश्मशान
मृतको के साथ-साथ
भस्म कर रहा अनेक
कोमलतम सूत्र
स्नेह, आदर के,
वत्सलता, प्रणय, भक्ति आदिक के
संबंधो, परिचयो, निकटता के

हृदयहीन, निष्ठुर निज लपटों में
घूघूघू, धूधूधू,
चटचटचट, चटचटचट।
कुछ परिजन आँखों मे आँसू ले
सामने सिसकते है,
कुछ शव के साथ ही चिता पर चढ़
जल मरने के लिए मचलते है।
ढाड़ मार रोते कुछ,
कुछ बैठे दूर अपने घर ही में
प्रिय के सवाद को तरसते है,
दुर्घटना का सुन कुछ समाचार
स्वजनो को खोजने निकलते है।
चिंता, भय, आकुलता, दु.ख,शोक
क्षण-क्षण मे सूरते वदलते है।
घर-घर मे वेदना की छाया है।

(४)

वह भगदड़, वह रेला,
भेड़ियाधसान भीत,
जव वह मानवसमूह
कुचल-कुचल औरों को
चलता था,
पूछती दिशाएँ थीं,

पूछता था आसमान—
क्या है ये गाँधी के देश के मनुष्य, जिन्हे
अभयमंत्र राष्ट्रपिता, बलि हो, सिखा गया,
मृत्यु के मुक़ाबिले की नव दिशा दिखा गया ?
क्यो ये निज प्राणों के इस हद तक लोभी है,
अनजाने, अनदेखे भय से आतंकित हो
औरों की हत्या कर चाह रहे रक्षा निज,
भाग रहे औरो को रौद-रौद ?
दलन, मरण मानवों का
मानवो के चरणों से,
इससे है अधिक कौन
और बात लज्जा की !
जो मरे, चिताओं ने भस्म किया उन्हे वही,
उन्हे मार आए जो, जीवन भर जलना है
लज्जा की ज्वाला मे उनको भी घर-घर मे ।
विश्व हँस रहा है — ये
है स्वतंत्र भारत के अधिवासी,
जिनका है निर्भयता, ज्ञान, शांति,
संयम, अनुशासन से
इतना संबध नही
कि ये करे औरों के जीवन की
रक्षा भी उसी भाँति,
जिस तरह बचाते है .

अपने ये स्वयं प्राण !
कुंभ का महाश्मशान
तट पर जब जलता है,
जलता है लज्जा से,
वेदना, विवशता से,
आत्मग्लानिज्वाला से
तब हृदय मनुजता का,
राष्ट्र और कवि का भी,
कणकण का,
दिशादिशा, अम्बर का,
सागर का, धरणी का,
प्राणों से क्षुब्ध हूक उठती है—
क्यों कुछ न कर पाया कोई, जब
कीड़ों की मौत मरा
भाग वह मनुजता का,
मूढ़,असहाय वह,
दीन वह, अभागा वह।
मानव क्यों इतना अपदार्थ हुआ,
क्यों इतना सस्ता जनजीवन था !

८।२।५४

वंशी

(१)

अतर् मे अभाव है तेरे,
शून्य असंबल प्राणो मे है,
भावविभोर विश्व को, फिर भी,
आकर्षण तव तानों मे है ।

(२)

दुर्बल तू, अपने जीवन मे
छिद्र कई धारण करती है,
पर छिद्रो के मर्म-स्वरों से
रस जनजीवन मे भरती है ।

(६)

सबलहीन, साधनारत जो
जग के कलाक्षेत्र मे मानव,

वशी, तू उनका प्रतीक है,
तू उनका आदर्श ऊर्ध्वरव।

(४)

निर्जन मे ले जन्म, वही हो
तप से विकसित, हृदय छिदाकर,
जब तू आती, आदर पाती,
चढकर अधर-अधर पर घर-घर।

(५)

निर्जनवासिनि, हे संन्यासिनि,
जग मे जहाँ गूँजता तव स्वर,
गंधमत्त अलिकुल से जनगण
हो एकत्र झूमते सत्वर।

(६)

एकाकिनी, अकेले स्वर से
विश्वविजय कर छूती अंबर,
शिखर साधना का प्रिय तुझको,
सह्य नही वैभव, आडंबर।

(७)

विभव,विलास,शक्ति,धन,सत्ता,
भय, आकर्षण, मोह, प्रलोभन,

आडंबर से ऊपर उठ जब
कलाकार करता सत्यार्चन,

(८)

शिव, सौंदर्य, स्नेह, रस सर्जन,
तब भी वह रहता है मानव,
उठकर गिरना, गिरकर उठना,
अथक साधना जिसका गौरव ।

२२।२।५४

योजनाशिल्पी से

(१)

भूखा-प्यासा राष्ट्र कर रहा
आज पुकार नए सर्जन की—
अन्न चाहिए, नीर चाहिए,
शक्ति, ज्योति, गति नवजीवन की।

(२)

ओ कल्पक, ओ शिल्पी, हटकर
दूर ख्याति के सस्ते स्तर से,
कर साधना, चिन्तना अविरत,
भ्रांत न हो कोलाहल-स्वर से!

(३)

दे ऐसी योजना राष्ट्र को,
दैन्य, दुःख, दारिद्र्य दूर हो,

पाश अभाव, असुविधा, जड़ता,
परवशता के चूर-चूर हो ।

(४)

स्वावलंब के दृढ़ाधार पर
राष्ट्र खड़ा हो अमर, समुन्नत;
ज्योतित हो घर-घर, जन-जन हो
सुखी, समृद्ध, स्वस्थ, संकृतिरत ।

(५)

राष्ट्र समुन्नत बन न सकेगा
न्यायहीन सर्जन से केवल;
उत्पादन के साथ योजना
वितरणसमता पर भी दे बल ।

(६)

अधभूखे, अधनंगे मानव
रखे नीवँ के पहले पत्थर,
वही योजना पूर्ण बनावे,
अंतिम शिखर लगावें ऊपर,

(७)

फिर भी उनका वर्ग राष्ट्र का
यदि न वर्ग बन पाय उच्चतम,

तो ऐसी योजना व्यर्थ है
व्यर्थ साधना, तप, सर्जन, श्रम ।

(८)

शोषित, दलित, पीड़ितों, का सुख,
शोषक वर्गों का निर्मूलन
जिसका लक्ष्य बने, सार्थक है
वही योजना, वह उत्पादन ।

८।३।५४

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	२	दखो	देखो
४	१५	छ पावे	छ पावे
१६	५	म	में
२०	१	मुक्तिक	मुक्तिका
२१	२	गौराशंकर	गौरीशकर
३६	१०	हे साथ	हैं हाथ
४४	१६	तुम्ह	तुम्हे
५०	२३	एसे	ऐसें
५१	१	वकार	बेकार
५१	६	८।५३	३।८।५३
५२	४	नव	नव
५३	६	विषवास	विश्वास
५६	४	शव का	शिव का
८०	१०	भी	भी
८८	२	दिवाकर की	दिवाकर के
६३	३	हूँ,	हूँ
६५	४	वदनाएँ	वेदनाएँ
१२०	५	पीड़ितो,	पीड़ितो

श्री मिलिन्द के जीवन पर एक दृष्टि

जन्मस्थान–श्री जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द का जन्म मुरार (ग्वालियर, मध्यभारत) में हुआ।

जन्मतिथि–कार्तिकपूर्णिमा संवत् १९६४ वि० (ता० १९।११। १९०७ ई०)

वर्तमान वासस्थान तथा पता–लश्कर (ग्वालियर, मध्यभारत)।

शिक्षा–मुरार हाई स्कूल में प्रारम्भिक, तिलक राष्ट्रीय विद्यालय, अकोला (मध्यप्रदेश) में मैट्रिक तक, तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, पूना से मैट्रिक्युलेशन परीक्षा, उसके बाद साहित्य और समाजविज्ञान की उच्च शिक्षा काशी-विद्यापीठ, बनारस के राष्ट्रीय कालेज मे। हिन्दी,संस्कृत और अँग्रेजी के अतिरिक्त उर्दू, बँगला और गुजराती भाषा का भी ज्ञान है।

पुस्तकें–आपकी रचनाओ मे 'प्रताप-प्रतिज्ञा', 'समर्पण' तथा 'गौतम नन्द' नामक तीन नाटक, 'जीवनसंगीत', 'नवयुग के गान', 'बलि-पथ-के गीत', 'भूमि की अनुभूति' तथा 'मुक्तिका' नामक पाँच कवितासंग्रह और 'चिन्तनकरण' तथा 'सांस्कृतिक प्रश्न' नामक दो निबंध-संग्रह और 'बिल्लो का नकछेदन' नामक एक व्यंग्यविनोद कथासंग्रह, इस प्रकार ग्यारह ग्रंथ, प्रकाशित हो चुके हैं।

मध्यभारत के शासन के शिक्षाविभाग द्वारा नियुक्त साहित्य-मनीषियो की समिति ने आपकी पुस्तक 'बलिपथ के गीत' को १००० रुपयों के प्रथम पुरस्कार के योग्य ठहराया। उत्तरप्रदेश के शासन के शिक्षा-विभाग ने भी, विद्वानो की समिति के निर्णयानुसार, आपके 'बलिपथ के गीत' और 'समर्पण' पर ८०० रुपयो का पुरस्कार दिया, जो मध्यभारत के साहित्यकारो को वहाँ से प्राप्त पुरस्कारो मे सबसे बडा था। आपके 'भूमि की अनुभूति' तथा 'गौतम नन्द' नामक ग्रथो पर भी मध्यभारत-शासन के शिक्षा-विभाग की कलापरिषद् ने, विद्वानो के परामर्श पर, ७०० रुपयो का प्रथम पुरस्कार दिया है।

कार्य--विश्वभारती, शान्तिनिकेतन (बगाल) तथा महिला-आश्रम, वर्धा (मध्यप्रदेश) मे अध्यापक तथा प्रयाग और अजमेर मे साहित्यसेवी तथा राष्ट्रकर्मी के रूप मे रहे। पजाब की मासिक-पत्रिका 'भारती' तथा ग्वालियर के अर्ध-साप्ताहिक पत्र 'जीवन' के सम्पादक रहे। ग्वालियर स्टेट कॉंग्रेस के प्रधान-मन्त्री तथा मध्यभारत प्रातीय कॉंग्रेस-की कार्यसमिति के सदस्य रहे। सन् १९४२ के आन्दोलन मे तथा बाद मे भी जेलो मे रहे। कॉंग्रेस द्वारा शासन ग्रहण किये जाने पर मिनिस्टर पद स्वीकार करने का अनुरोध किये जाने पर, उसे अस्वीकार कर चुके है। मध्यभारत समाजवादी पार्टी के, सर्व-सम्मति से, दो बार लगातार प्रातीय प्रमुख तथा प्रातीय पार्लमेण्टरी कमेटी के अध्यक्ष चुने गए थे। बृहत्तर ग्वालियर साहित्यकार सघ, पत्रकार-सघ, नव सस्कृति संघ आदि सस्थाओ के अध्यक्ष रह चुके है। शिक्षा-विभाग द्वारा सस्थापित साहित्य तथा कलाओ की सस्था 'मध्यभारत-कला-परिषद्' के सर्वसम्मति से उपाध्यक्ष चुने गए है।

पिछले दिनो अस्वास्थ्य, राजनीति, सार्वजनिक कार्यो तथा अन्य अधिक व्यस्तताओ के कारण साहित्यनिर्माण मे पर्याप्त समय न लगा सके। अब कुछ वर्षो से पुन. साहित्यक्षेत्र ही मे अधिकतर कार्य करने लगे है। आजकल अपना अधिकाश समय मुख्यत: स्वाध्याय, ग्रंथलेखन तथा स्वतन्त्र एव निष्पक्ष पत्रकार के कार्य में लगा रहे है। देश के अनेक प्रतिष्ठित हिन्दी, अँग्रेजी, गुजराती, बँगला आदि भाषाओ के दैनिक पत्रो के प्रतिनिधि है। ग्वालियर से प्रकाशित मासिक-पत्रिका 'भारती' के प्रधानसम्पादक का काम भी कर रहे है। अनेक ग्रथो के निर्माण का कार्य-क्रम उनके सामने है। आजकल नियमित रूप से साहित्यरचना ही कर रहे है। उनकी अनेक नई पुस्तकें निकट भविष्य मे प्रकाशित होनेवाली है।

—:०:—

श्री ज० प्र० मिलिन्द की साहित्य-साधना पर कुछ आलोचकों के अभिमत

श्री मिलिन्द जी की वेदना और भावना केवल मन को छूती ही नही, उसमें एक आलोडन भी पैदा करती है। उनमे आज और कल-का वह स्वर, वह चिन्तन भी है, जिसमें एक श्रेष्ठ, सुखी और समृद्ध मानव-समाज की आशा है। एक सदेश, साधना की एक छाप और मानवीय वेदना की एक कसक है

—नया समाज, अप्रैल १९५२

देश-प्रेम से आरम्भ होकर मिलिन्द जी की साधना मानव के प्रेम तक पहुँची है। वह एक सिद्धहस्त कलाकार हैं। उनकी रचनाओ में सरलता है, प्रवाह है, ओज है। उनकी अनुभूति बहुत तीव्र है। इसी कारण उनकी रचनाएँ सच्ची और प्रभावशाली है। उनका स्थान साहित्य ही मे नही, वरन्, इतिहास में भी निश्चित है, इसमें कोई सन्देह नही।

—विशाल भारत, मई ४६

मिलिन्द जी की अनुभूति जीवन की अनुभूति है। उनमें बर्नार्ड शा-की भाँति सफल सुन्दर व्यग्य भी है। उनकी कृतियो में युग का अनोखा चित्रण है, जादूभरा-सा। उनके साहित्य में मूक शोषित मानवता-संगठित असतोष की वाणी और शृखलाखडन की वास्तविक प्रेरणा मिलती है। वह शोषितो और दलितो के प्रहरी प्रतिनिधि कलाकार है। मानवता के इस नन्दा-दीप मे हिन्दी को साने गुरु जी मिला।

—जनवाणी, जुलाई, सितम्बर ५१

मिलिन्द जी की रचनाओं ने उन्हें पिछले कलाकारों से आगे प्रस्तुत किया है और स्पष्ट किया है कि वह आज भी तरुण हैं। वह आज-के युग के साथ भी चल सकते हैं, अपनी उसी प्रतिभा और अमद गति-से। वह प्रगतिशील होने के साथ-साथ कलात्मक भी हैं, विचारप्रवण होने के साथ-साथ रससिक्त भी। यही उनकी औरों से विभिन्नता है। वह हिन्दी के सफल नाटककार हैं। और उदात्त विचार के कुशल कवि भी। जनजीवन से उनका सीधा सम्पर्क है और अपने देश के सांस्कृतिक अभ्युदय के लिए उनकी आत्मा तड़पती है।

—नई धारा, सितम्बर ५१, अप्रैल ५२

मिलिन्दजी की कृतियाँ देश को नई दिशा की ओर मोड़ सकने का तेज रखती हैं। आपने साहित्य को जो कुछ दिया है, वह प्राण और वास्तविक अनुभूत सत्य से पूरित है। उनकी सभी कृतियाँ अनुपम सौंदर्य और प्रगति-शील जीवन-प्रदर्शन से पूर्ण हैं। हिन्दी मे ऐसी गहन वेदना का स्वर इने-गिने साहित्यकारों की कृतियो ही मे मिलता है। हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी और जनता इस साहित्यकार की महत्ता को कभी भुला नहीं सकेंगे।

—नवयुग, मई ५१

श्री मिलिन्द की गणना निस्सन्देह आधुनिक हिन्दी-साहित्य के उन प्रतिनिधियो मे की जा सकती है, जिन्होने नए युग की नई चेतना को प्रभावित किया है और जिनकी कृतियाँ देश को नई दिशा की ओर मोड़ने-में सफल हुई हैं। उन्होने अपनी सृजनात्मक प्रतिभा और विचारप्रवणता-से युग का साथ दिया है। उनकी साधना की प्रखर ज्योति ने सर्वांगीण जगजीवन को आलोकित किया है। उनकी अनुभूति मानवता की सच्ची अनुभूति है। उनकी वाणी युगदेवता की वाणी और उनके स्वरो में युगदेवता के स्वरो की झंकार है।

—जनसत्ता, दिल्ली, ३१ दिसम्बर ५२